

भारतीय दर्शन के संदर्भ में प्रमाण संप्लव एवं प्रमाण व्यवस्था की दार्शनिक विवेचन

डॉ० आर. के. देसवाल

विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की प्रमाणों की संख्या को लेकर अलग-अलग मान्यताओं का उनकी ज्ञानमीमांसा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। चार्वाक-दर्शन जो केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। वह अनुमान और शब्द से होने वाले ज्ञान का निषेध करता है। इसीलिए उसके अनुसार प्रत्यक्ष से होने वाला ज्ञान ही प्रामाणिक ज्ञान है। अन्य ज्ञान प्रामाणिक ज्ञान नहीं है, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

बौद्ध-दर्शन और वैशेषिक-दर्शन दोनों प्रत्यक्ष एवं अनुमान को प्रमाण मानते हैं, किन्तु इन दोनों की दृष्टि में पर्याप्त मतभेद है। बौद्धों का कहना है जानने की वस्तु दो प्रकार की है- स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण। इनमें स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है और सामान्य लक्षण का ज्ञान अनुमान से होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रमाण दो प्रकार के मानने का आधार दो प्रकार के प्रमेयों का होना है; अर्थात् प्रमेय दो प्रकार के हैं, इसीलिए प्रमाण भी दो प्रकार के माने गए हैं। वैशेषिक भी मानते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं क्योंकि अन्य प्रमाणों से होने वाले ज्ञान किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष या अनुमान के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं।

जैन-दर्शन, सांख्य-दर्शन एवं योग-दर्शन तीनों ही शब्द को भी प्रमाण मानते हैं किन्तु शब्द की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में इनमें मतभेद है। सांख्य और योग के अनुसार श्रुति या वेद शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं किन्तु जैनों के अनुसार ये दोनों प्रमाण नहीं हैं। उनके अनुसार तीर्थंकर के वचन को ही शब्द प्रमाण माना गया है। प्रभाकर मीमांसक अर्थापत्ति को प्रमाण मानते हैं परन्तु कुमारिल मीमांसक अर्थापत्ति के साथ में अनुपलब्धि को भी छोड़े प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। अद्वैत-वेदान्त उपर्युक्त छः प्रमाणों को ही मानता है।

प्रमाण व्यवस्था एवं प्रमाण संप्लव का अर्थ

भारतीय ज्ञानमीमांसा का एक मुख्य विषय प्रमाण विवेचन है। प्रमाणों से ही प्रमेय की सिद्धि होती है। इस मान्यता को स्वीकार कर प्रमेयों के साथ या पहले प्रमाण पर भी विचार किया जाता है। प्रमाण को प्रमा का साधन अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन मानकर उसका निरूपण होता है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय प्रमाण की अवधारणा को स्वीकार करते हैं किन्तु इनकी संख्या में पर्याप्त भेद है। चार्वाक एक ऐसा दार्शनिक सम्प्रदाय है जो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिक सम्प्रदाय प्रत्यक्ष और अनुमान को अवश्य ही प्रमाण मानते हैं। सांख्य, जैन एवं योग-दर्शन में उक्त दो प्रमाणों के साथ शब्द प्रमाण को भी स्वीकारा गया है। न्याय-दर्शन उपमान के रूप में चौथे प्रमाण को सम्मिलित कर चार प्रमाण मानते हैं। कुमारिल भट्ट मीमांसक उक्त पांच प्रमाणों में अनुपलब्धि को जोड़कर छः प्रमाण मानते हैं। वेदान्त-दर्शन भी उपर्युक्त छः प्रमाण मानता है। कुछ तान्त्रिक एवं पौराणिक सम्भव, ऐतिहा, चेष्टा, तथा परिशेष को मिलाकर दस प्रमाण मानते हैं।

जिस सम्प्रदाय में केवल एक ही प्रमाण मान्य है उसमें प्रमाण संप्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं बनता है, क्योंकि प्रमाण संप्लव का अर्थ है किसी एक वस्तु का एक से अधिक प्रमाणों द्वारा स्वीकार करना और प्रमाण-व्यवस्था का मतलब है कि अनेक प्रमाणों के रहने पर भी एक विशेष का ज्ञान केवल एक ही प्रमाण से होता है। इसीलिए जो सम्प्रदाय एक से अधिक प्रमाणों की सत्ता नहीं मानता उसके लिए प्रमाण-संप्लव और प्रमाण-व्यवस्था अर्थहीन हो जाते हैं, क्योंकि इनकी सार्थकता एक से अधिक प्रमाणों के मानने पर जान पड़ती है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रमाण-व्यवस्था विवेचन

जहां तक प्रमाण-व्यवस्था का प्रश्न है यह भी लगभग सभी सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में अवश्य मान्य है, क्योंकि सभी दर्शन सम्प्रदाय इस बात को स्वीकार करते हैं कि कुछ वस्तुओं का स्वरूप ही ऐसा होता है जिनका ज्ञान किसी एक ही साधन या प्रमाण से सम्भव है; दूसरे साधन या प्रमाण का उसमें प्रयोग नहीं हो सकते उदाहरणार्थ, गन्ध का ज्ञान नाम से, रस का ज्ञान जिह्वा से, रूप से ज्ञान चक्षु से, स्पर्श का ज्ञान त्वचा से और शब्द का ज्ञान कर्णेन्द्रिय से प्रत्यक्ष द्वारा ही सम्भव है इनके ज्ञान के लिए अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती। अतः इनकी सीमा में प्रमाण-व्यवस्था मानना

युक्ति संगत लगता है किन्तु प्रमाण-व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व देने वाले दार्शनिक किसी भी रूप में प्रमाण-संप्लव को स्वीकार नहीं करते हैं। प्रमाण-व्यवस्था मात्र को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में बौद्ध दर्शन केवल दो ही प्रमाण (प्रत्यक्ष एवं अनुमान)^१ मानता है क्योंकि उसके अनुसार प्रमेय दो प्रकार के होते हैं- स्वलक्षण तथा सामान्य लक्षण। इनमें स्वलक्षण के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और सामान्य लक्षण के लिए अनुमान प्रमाण होता है।^२ बौद्ध दर्शन के अनुसार न स्वलक्षण का ज्ञान अनुमान से सम्भव है और न सामान्य लक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव है। अतः प्रमेय के आधार पर प्रमाण व्यवस्थित है। इसलिए ज्ञान के क्षेत्र में प्रमाण-व्यवस्था को ही एक मात्र सम्भावना है।

सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रमाण-व्यवस्था विवेचन

प्रमाण-व्यवस्था के समर्थक सांख्य-दर्शन का कहना है कि प्रमेयों की सिद्धि अनिवार्य रूप से प्रमाणों से ही होती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी भी प्रमाण से किसी भी प्रमेय की सिद्धि की जा सकती है। सामान्यतया वस्तु जगत् में विद्यमान वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। जो वस्तु अतीन्द्रिय है जिससे इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं बन पाता, उसका ज्ञान हेतु के द्वारा अर्थात् अनुमान के द्वारा किया जाता है। अनुमान से भी लिंग या हेतु के ज्ञान से लिंगी या साध्य का ज्ञान किया जाता है। किन्तु जहाँ हेतु या साध्य का ज्ञान सम्भव नहीं होता उन विषयों का ज्ञान आगम या शब्द प्रमाण से होता है।^३

सांख्य-दर्शन चार्वाक के इस मत का खण्डन करता है या इस मत से सहमत नहीं है कि जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता वे नहीं है। इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए सांख्य दर्शन उन कारणों की गणना करते हुए यह प्रदर्शित करता है कि इन कारणों के रहने पर विद्यमान वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इन कारणों में वह बतलाता है कि अत्यधिक दूर होने या अत्यन्त नजदीक रहने पर विद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे-हिमालय के शिखर जो अत्यधिक दूर हैं और आँख में लगा हुआ काजल जो अत्यधिक समीप है। इन्द्रियों के नष्ट निष्क्रिय होने की दशा में वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, जैसे - अन्धे को रंग का ज्ञान नहीं होता, मन की व्यग्रता या चिन्ता में सामने की वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती, व्यवधान रहने पर भी विद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे-एक कमरे में बैठे व्यक्ति को दूसरे कमरे में से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि बीच

में दीवार का व्यवधान आ जाता है। वस्तु के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण भी उनका प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे - किसी आती हुई सूर्य किरणों में देखने वाले कणों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जहाँ तीव्र गुण से मन्द गुण दब जाता है, वहाँ मन्द गुण का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, जैसे - सूर्य के प्रकाश में तारे दिखाई नहीं देते और तीव्र गन्ध के रहने पर मन्द गन्ध की प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार समान वस्तुओं की राशि में से किसी एक वस्तु को निकालकर उन्हें उस राशि में मिला दिया जाये तो बाद में मिलाई गई वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता जबकि वह वस्तु सामने ही दिखाकर उसी में डाल दिया जाए तो बाद में डाले गए दानों को पहचानना सम्भव नहीं होगा।^४ अतः सांख्य दर्शन चार्वाक के प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन करता है तथा प्रमाण-संप्लव तथा प्रमाण-व्यवस्था में से केवल प्रमाण व्यवस्था का ही महत्त्व देता है।

मीमांसा-दर्शन एवं वेदान्त-दर्शन के अनुसार प्रमाण-व्यवस्था का विवेचन

प्रमाण-व्यवस्था के समर्थक मीमांसक एवं वेदान्ती प्रमा का लक्षण ही ऐसा करते हैं कि प्रमाण-संप्लव सम्भव नहीं होता। इनके अनुसार प्रमा वह ज्ञान है जिसका विषय पहले से ज्ञात न हो और जो बाधित न हो अर्थात् प्रमा होने के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं - पहली शर्त यह है कि प्रमा के विषय को पहले से ज्ञात नहीं होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता कि प्रमा का विषय नवीन होगा। दूसरी शर्त यह है कि प्रमा को किसी अन्य ज्ञान से बाधित नहीं होना चाहिए।^५ इससे प्रमा में यथार्थता आती है, क्योंकि अयथार्थ विषय का ज्ञान यथार्थ विषय के ज्ञानसे बाधित हो जाता है। जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान रस्सी में रस्सी के ज्ञान से बाधित होने के कारण प्रमा नहीं कहलाता, तब प्रमा होने के लिए विषय नया नहीं रह जाएगा। इसलिए दूसरे प्रमाण से उसके ज्ञान की अवश्यकता नहीं रह जाएगी। अतः प्रमा के स्वरूप से प्रमाण-व्यवस्था स्थापित होती है। इन सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि किसी विषय से सम्बन्धित संदेह, अज्ञान हटाने के लिए प्रमाण का प्रयोग होता है। प्रमाण के पहले प्रयोग से ही यह कार्य सम्पन्न किया हो जाता है अर्थात् संदेह, भ्रम, अज्ञान समाप्त हो जाता है। इसके समाप्त होने के पश्चात् प्रमाण प्रयोग निरर्थक एवं अनावश्यक हो जाता है जैसे- पिसे हुए को पीसना। अतः जब ज्ञात वस्तु के लिए अन्य प्रमाण का प्रयोग ही आवश्यक नहीं है तब संप्लव कैसे सम्भव हो सकता है ?

न्याय-दर्शन के अनुसार प्रमाण-संप्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था का विवेचन

प्रमाण-व्यवस्था के साथ प्रमाण-संप्लव को समान महत्त्व देने वाला दार्शनिक सम्प्रदाय न्याय-दर्शन है। न्याय-सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने यह स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्ष^६, अनुमान^७, उपमान^८, और शब्द इन चार प्रमाणों के प्रयोग में प्रमाण-संप्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था दोनों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। वे प्रमाण-संप्लव का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि 'आत्मा' है। इस प्रकार आत्मोपदेश से ज्ञान हो जाने पर भी हेतुओं के आधार पर आत्मा का अनुमान हो जाता है। आत्मा के अनुमान के लिए हेतु-राग-द्वेष, इच्छा, सुख-दुःख, ज्ञान आदि हैं। इसीलिए आत्म-प्रमाण से ज्ञात आत्मा का ज्ञान अनुमान प्रमाण से भी होता है। पुनः योग साधना से सम्पन्न योगी अपने विशुद्ध मन से आत्मा सा साक्षात् ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार कि पहले सुनकर वहाँ अग्नि है, शब्द प्रमाण से अग्नि का ज्ञान होता है और बाद में उठते हुए धुँएँ को देखकर अनुमान प्रमाण के द्वारा अग्नि का ज्ञान होता है। समीप पहुँच जाने पर आँख से देखकर यहाँ अग्नि है, इस प्रकार अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और अधिक नजदीक आने पर उष्ण स्पर्श के साथ त्वचा द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इनकी यह मान्यता है कि एक प्रमाण से ज्ञात वस्तुओं को यदि हम दूसरे प्रमाणों से भी जान जाएं तो पहला ज्ञान दूसरे ज्ञान को किसी भी तरह रोक नहीं सकेगा, जैसे- यदि किसी बोझे को एक बार बांध लिया है और दूसरी बार बांधने की जरूरत नहीं है, फिर भी यदि वह दूसरी रस्सी से उसे बांधना चाहे तो से पहला बन्धन कैसे रोक देगा, यह समझ में नहीं आता है। इसीलिए प्रमाण के लक्षण में यथार्थ मात्र होना पर्याप्त है। प्रमाण-व्यवस्था का उदाहरण देते हुए वात्स्यायन का कहना है कि स्वर्ग की कामना करते हुए अग्निहोत्र किया जाता है। यहाँ मात्र शब्द प्रमाण है। दुधमुँहे बच्चे की रुलाई सुनकर रुलाई के कारण का अनुमान सम्भव है, न तो उसका प्रत्यक्ष सम्भव है, न ही आगम। हाथ में रखी हुई वस्तु के लिए मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है, न उपमान न शब्द प्रमाण। संक्षेप में, इस प्रकार प्रमाण-संप्लव व प्रमाण-व्यवस्था का समान महत्त्व है, क्योंकि नैयायिक मानते हैं कि सामान्यतः एक वस्तु का ज्ञान एक ही प्रमाण से हो जाता है परन्तु विशेष वस्तुओं के संदर्भ में एक से अधिक प्रमाणों से वस्तु को जाना जा सकता है।

भारतीय दर्शन में प्रमाण-सम्पलव और प्रमाण-व्यवस्था का विवाद मुख्य रूप से प्रमाण विनियोग की अवधारणा से सम्बन्धित है। प्रमाणों की संख्या एक से अधिक स्वीकार करने पर उनके विषय एवं क्षेत्र की विशिष्टता निर्धारण के लिए प्रमाण विनियोग की अवधारणा का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। चार्वाक प्रभृति एकल-प्रमाणवादियों के लिए यह कोई समस्या नहीं है। प्रमाण-विनियोग को अवधारणा सुनिश्चित करने के लिए प्रमाणों के आपसी सम्बन्ध विषयक कुछ सामान्य प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। क्या प्रमाण एक दूसरे के क्षेत्र में क्रियाशील हो सकते हैं ? क्या प्रमाणों के परस्पर सहयोग से ही विषय की सम्यक् उपलब्धि सम्भव होती है ? क्या एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण के द्वारा समान रूप से जाना जा सकता है ? इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिक दो खेमों में बाँटे जाते हैं। बौद्धों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणों का परस्पर प्रयोग अस्वीकार्य है। इनके अनुसार कोई भी प्रमाण अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता है। बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाण-व्यवस्था को अनुभव-विरोधी एक दोषपूर्ण दृष्टि मानते हैं। व्यवहार में एकाधिक प्रमेयों में एक ही प्रमाण की प्रवृत्ति और एकाधिक प्रमाणों से एक ही प्रमेय की उपलब्धि सर्वविदित है।

अतः उपर्युक्त चर्चा के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्या उत्पन्न होती है। अनुमान को साधारणतः इस प्रकार समझा जाता है कि दो वस्तुओं का जब कई बार साथ-साथ प्रत्यक्ष होता है, अथवा जब एक वस्तु के अभाव के साथ दूसरी वस्तु का अभाव भी सदा देखने में आता है तब किसी परिस्थिति विशेष में एक के अनुभव से दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी वस्तु का अनुभव सम्भव नहीं होना चाहिए जिसका कभी प्रत्यक्ष न हुआ हो। दूसरे शब्दों में, अनुभव की संभावना साधारण मानवीय अनुभव की सीमा में ही स्वीकार की जा सकती है। ऐसा स्वीकार करके आगे यह स्वीकार करना भी न्यायसंगत जान पड़ता है कि जो प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है वही किसी परिस्थिति विशेष में प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होने पर भूतकालीन अनुभव के आधार पर अनुमान द्वारा उपलब्ध हो सकता है। ऐसा कम से कम नैयायिकों को तो स्वीकार करना ही चाहिए जो कि प्रमाणों में कोटि-भेद की स्थिति में यह कहना चाहेंगे कि प्रत्यक्ष से जिस अग्नि के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है उसी अग्नि से

अस्तित्व को अनुभव द्वारा स्वीकार किया जाता है । दोनों के विषयों को समान मानने पर ही अनुमान की वैधता का निर्णय सम्यक् होता है । अनुमान के आधार पर यदि पर्वत पर अग्नि का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, और यदि कोई इस अनुभव की वैधता को चुनौती देता है तो प्रत्यक्ष के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि पर्वत पर अग्नि है । यहाँ तक नैयायिकों का प्रमाण-संप्लव का सिद्धान्त उचित प्रतीत होता है । परन्तु जब नैयायिक परमाणुओं, आकाश, काल आदि द्रव्यों को केवल और केवल अनुभव का ही विषय मानते हैं तब न केवल उनकी यह मान्यता उनके प्रमाण-संप्लव विषयक साधारण अवधारणा के विरोध में भी दिखाई देती है ।

इसी तरह अनुमान की उक्त अवधारणा को सामने रखकर जब बौद्धों के मत को समझने का हम प्रयास करते हैं तब बौद्धों का यह मत भी बोधगम्य प्रतीत नहीं होता कि सामान्य लक्षण केवल अनुमान का ही विषय है । बौद्धों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वे 'अनुमान' पद का उसी अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं जिस अर्थ में हम कहते हैं कि पर्वत पर धूम को देखकर कोई उसी पर्वत पर अग्नि का अनुमान करता है ।

अतः ज्ञान के क्षेत्र में वस्तुपरकता तथा अन्तर्वैयक्तिकता की सम्यक् रूप में प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जब यह माना जाए कि ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष-गम्य हो, या अनुमानगम्य हो या शब्दगम्य हो, अन्ततः उसका विषय अनुभवगम्य होना चाहिए । परन्तु इसको मानने का निहितार्थ यह नहीं है कि हम केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण कहें या कि अतीन्द्रिय अनुभव को अनुभव ही न कहें, जैसा कि जड़वादी सिद्धान्त में स्वीकार किया जाता है । अनुमान, शब्द आदि प्रमाण वैविध्य की सार्थकता मानव परिस्थितियों में भेद के आधार पर स्वीकार की जानी चाहिए, न कि इस रूप में कि कुछ वस्तुएं केवल प्रत्यक्षगम्य ही हैं, और कुछ वस्तुएं केवल अनुमानगम्य हैं, और अन्य कुछ केवल शब्दगम्य । सभी प्रमाण अन्ततः ज्ञाताओं के अनुभव साम्य पर तर्कतः आश्रित हैं । अतः प्रमाणों के समान विषय सम्बन्धी मत को अर्थात् प्रमाण-संप्लव को ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से स्वीकार करना तर्कसम्मत प्रतीत होता है । पर यदि किसी मनुष्य को कोई ऐसा विशिष्ट अनुभव होता है तो साधारणतः अन्य व्यक्तियों को नहीं होता जैसे ब्रह्म या ईश्वर आदि लोकोत्तर अनुभव, तो वह लोकोत्तर अनुभव भी ज्ञानमीमांसीय रूप से तभी सार्थक हो सकता है जबकि अन्य साधारण व्यक्तियों के संदर्भ में यह स्वीकार किया जाए कि कुछ

{ 50 }

वर्ष 52-दार्शनिक त्रैमासिक - अंक - 3

विशेष साधनों की प्रक्रिया से गुजर कर उन्हें भी उस तरह के अनुभव की उपलब्धि हो सकती है। अतएव, लोकोत्तर अनुभव भी केवल इस दृष्टि से 'लोकोत्तर' होंगे कि उन्हें ध्यानादि कुछ विशेष प्रकार के मानसिक यत्न के माध्यम से ही उपलब्ध किया जा सकता है और वे मानसिक यत्न साधारणतः प्रयुक्त मानसिक यत्नों से भिन्न होते हैं जैसे सोचना, कल्पना करना आदि-आदि।

अतः सारांशतः यह कहा जा सकता है किसी विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसा से प्रतिबद्ध हुए बिना भी प्रमाण-संप्लव को स्वीकार किया जा सकता है।

विभागाध्यक्ष,
दर्शन-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र - १३६११९



जैनतत्त्वमीमांसा में क्रमबद्ध पर्याय एवं सर्वज्ञता की पूर्वापेक्षा

ऋषभ कुमार जैन (शोध छात्र)

जैनदर्शन के अनुसार लोक में विद्यमान चेतन-अचेतन समस्त वस्तुएँ सत् लक्षणात्मक द्रव्य स्वरूप हैं।^१ सत् का स्वभाव उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है।^२ तथा द्रव्य, गुण पर्यायवान् है।^३ वस्तु अपनी ध्रौव्यता कायम रखते हुए उत्पत्ति व विनाश रूप परिणामन करती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वरूप से परिणामी व नित्य है। प्रत्येक द्रव्य की पूर्व पर्याय का व्यय होना, नवीन पर्याय का उत्पाद होना तथा गुणों का नित्य रूप से रहना उसका ध्रुव स्वभाव है। वस्तु मात्र स्वतंत्र रूप से परिणामनशील ही नहीं है, बल्कि उसके परिणामन में एक निश्चित क्रम भी है। उसके इस परिणामन क्रम में कभी फेरबदल नहीं होता है। किस वस्तु में, किस समय, कौनसी पर्याय उत्पन्न होगी यह निश्चित ही है अतः क्रमबद्धपर्याय वस्तु के परिणामन की व्यवस्था है। परिणामन की इस क्रमनियमितता को जिनागम में 'क्रमनियमित पर्याय' या 'क्रमबद्ध पर्याय' नाम से विवेचित किया गया है।

क्रमबद्ध पर्याय इस तथ्य का प्रतिपादन करती है कि वस्तु की परिणामन व्यवस्था व्यवस्थित ही नहीं, अपितु स्वाधीन स्वतंत्र एवं क्रमनियमित भी है। एक द्रव्य के परिणामन में दूसरे द्रव्य को कोई हस्तक्षेप नहीं है। एक गुण का दूसरे गुण में कोई हस्तक्षेप नहीं है।

यदि वस्तु अनन्त धर्मात्मक एवं पर्यायात्मक है तथा अनंत पर्यायों में एक क्रमबद्धता भी अनुस्यूत होती है तो ऐसे वस्तु के स्वरूप का प्रमाण का आकार क्या होगा ? क्योंकि अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सर्वतोभावेन् ज्ञान प्रमाण प्रमेय के सीमित व्यवहार और उसके प्रयोजनों का अतिक्रमण कर जाता है। जब इस जिज्ञासा के लिए सर्वज्ञता का आधार लेना अपरिहार्य हो जाता है, कि द्रव्य में पर्यायों का निश्चित क्रमानुसार परिणामन किसने देखा ? इसका एकमात्र समाधान यही है कि सर्वज्ञ ने देखा। क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्येक वस्तु की भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायें वर्तमानवत् प्रत्यक्षतः ज्ञात होती हैं तथा वस्तु का परिणामन सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात क्रमानुसार ही होता है।

जगत के समस्त कृत्रिम अकृत्रिम पदार्थों में भी परिणमन का निश्चित क्रम दिखलायी पड़ता है। जैसे-प्रकृति में ऋतुओं का क्रम, वृक्ष की उत्पत्ति व विकास का क्रम, सप्ताह, दिन, महीने, वर्ष एक निश्चित क्रम में हैं। मनुष्य का जीवन भी जन्म, शैशव, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्धावस्था व मृत्यु एक निश्चित क्रम में हैं। घटादि के निर्माण में भी क्रमान्विति पायी जाती है इस प्रकार जगत का प्रत्येक पदार्थ चाहे वह हमारे दृष्टिगम्य स्थूल पदार्थ हो अथवा दृष्टि से परे सूक्ष्म हो उनके परिणमन में क्रमरूपता पायी जाती है। कोई भी पदार्थ परिणमन की इस क्रमरूपता का उल्लंघन नहीं कर सकता और न ही अन्य पदार्थों के व्यवस्थित परिणमन में हस्तक्षेप कर सकता है। इससे यह निष्कर्ष फलित होता है कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वतंत्र, स्वाधीन व क्रमबद्ध है। इस प्रकार क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धान्त की सर्वज्ञता के साथ अन्विति है और इस सिद्धान्त की प्रमाणता अंतिम रूप से किसी सर्वज्ञ को स्वीकार करने से ही होगी।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य को गुणपर्यायवान कहा है। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। वे गुण द्रव्य के आश्रय से अपने-अपने द्रव्य के सम्पूर्ण भागों और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में पाये जाते हैं। द्रव्य में रहने वाला एक गुण के आश्रित नहीं रहता।^४ द्रव्य में अनंत गुण एक साथ रहते हुए भी एक गुण दूसरे गुण का कार्य नहीं करता, सहवर्तिता गुणों का स्वरूप है। वे गुण वस्तु में एक साथ स्वाधीन, स्थायी एवं अक्रमवर्ती रूप से रहते हैं।

गुणों के परिणमन (कार्य) को पर्याय कहते हैं। पर्याय एक समय रहती है। द्रव्य व गुणों में पर्याय के रूप में प्रतिसमय परिणमन होता है। पर्याय द्रव्य के आकार एवं गुण परिणमन की अपेक्षा दो भेद रूप हैं—

१. व्यंजन पर्याय- जो द्रव्य के प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य के आकार रूप होती है।
२. द्रव्य पर्याय (गुण पर्याय) - जो द्रव्य के शेष गुणों के परिणमन को दर्शाती है इनके स्वभाव विभाव की अपेक्षा दो भेद और हो जाते हैं। जीव व पुद्गल में समानजातीय, असमानजातीय एवं स्वभाव, विभाव रूप द्रव्य, व्यंजन पर्याय इस प्रकार चारों प्रकार की पर्यायें पायी जाती हैं। शेष धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में स्वभाव द्रव्य पर्याय एवं स्वभाव व्यंजन पर्याय होती है। पर्याय प्रति समय परिणमन के कारण क्रमवर्ती कही जाती है। प्रत्येक द्रव्य में क्रमवर्ती तथा अक्रमवर्ती रूप से दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं। युगपत

रहने के कारण गुणों को सहभू तथा क्रमवर्ती होने से पर्याय को क्रमभू समझना चाहिए ।^५ इस प्रकार गुण पर्याय विशिष्ट द्रव्य सह क्रम प्रवृत्त अनेक धर्मों में व्यापक अनेकांतमय है ।^६ द्रव्य क्रमरूप (पर्याय) व अक्रमरूप (गुण) से प्रवृत्तमान स्वभाववाला होने से गुण पर्यायों को अंगीकार करता है । ऐसा क्रमवर्ती तथा अक्रमवर्ती उभय रूप वस्तु का स्वभाव है ।^७

संसार परिभ्रमण में भी देव मनुष्यादि पर्याय क्रमवर्ती होने से जिनका समय उपस्थित (निश्चित) हुआ है, वे उत्पन्न होती हैं और जिनका समय बीत गया है वे व्यय को प्राप्त होती हैं ।^८ अतः यह सिद्ध होता है कि पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं और गुण अक्रमवर्ती तथा सहवर्ती होता है, ऐसी वस्तु की व्यवस्था है ।

जगत को द्रव्य के इन क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती धर्मों में परस्पर विरोध लगता है, परन्तु इनमें सुन्दर समन्वय है । सत् स्वरूप द्रव्य पर्याय की अपेक्ष क्रमवर्ती है, क्योंकि वह अनादिकाल से परिणामनशील है और सत् द्रव्य गुणों की अपेक्षा से अक्रमवर्ती है, क्योंकि परिणामन करता हुआ भी गुणों का समुदाय सत् एक रूप है ।^९

‘क्रमबद्ध पर्याय’ शब्द को जिनागम में ‘क्रमनियमित पर्याय’ शब्द से इंगित किया है जो कि एकार्थवाची है ।^{१०} जिनागम के चारों अनुयोगों के ग्रंथों में क्रमबद्ध पर्याय के संबंध में विशेष रूप से विचार किया गया है ।

जिनागम में प्रयुक्त ‘क्रमबद्धपर्याय’ शब्द के प्रत्येक पदों का विशेष और पारिभाषिक अर्थ है —

- क्रम - एक के बाद एक, एक साथ नहीं ।
- बद्ध - नियमित या निश्चित ।
- पर्याय - द्रव्य अथवा गुणों का परिणामन ।

उक्त अर्थ में दो बातें स्पष्ट की गयी हैं :-

- (१) पर्यायें एक के बाद एक क्रमशः होती हैं ।
- (२) पर्यायें अपने सुनिश्चित क्रम में होती हैं, अर्थात् जिसके बाद जो पर्याय होना होता है वही होती है अन्य नहीं ।

इस विश्व में जीव क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है अजीव नहीं । इसी प्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से

उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है जीव नहीं।^{११} यहाँ समस्त जीवों और अजीवों के परिणमन को क्रमबद्ध कहा गया है। जीव और अजीव द्रव्यों के समूह का नाम ही विश्व अर्थात् जगत है इस प्रकार समस्त जगत का परिणमन ही क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है।

द्रव्य गुण पर्यायात्मक वस्तु में उत्तरक्षणवर्ती पर्याय का उत्पाद एवं पूर्वक्षणवर्ती पर्याय का व्यय होने पर भी वस्तु अपने द्रव्यत्व स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, और न उसके इस क्रम में कभी अंतर पड़ता है।^{१२}

‘प्रत्येक कार्य अपने स्वकाल में ही होता है इसलिए प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रम नियमित हैं वे एक के बाद एक अपने-अपने स्वकाल में निश्चय उपादान के अनुसार होती रहती हैं।’^{१३} यहाँ पर ‘क्रम’ शब्द पर्यायों की क्रमाभिव्यक्ति दिखलाने के लिए स्वीकार किया है और ‘नियमित’ शब्द प्रत्येक पर्याय का स्वरूप अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार नियमित है यह दिखलाने के लिये दिया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस सिद्धान्त को हमें मोतियों के हार के दृष्टान्त से समझाते हैं। जिस प्रकार मोतियों के हार में सभी मोतियों का क्रम सुनिश्चित है, उन्हें आगे पीछे नहीं किया जा सकता। आगे के मोती आगे-आगे के स्थान में उत्पाद रूप से हैं, और पीछे-पीछे के मोती व्यय रूप से तथा दोनों मोतियों के मध्य अनुस्यूत धागा ध्रौव्य रूप से विद्यमान है इस प्रकार हार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षण वाला निश्चित होता है।

उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में पर्यायों के क्रम निश्चित है, उन्हें आगे पीछे नहीं किया जा सकता। उत्तरक्षणवर्ती पर्याय आगे-आगे के स्थान में उत्पाद रूप से है और पूर्वक्षणवर्ती पर्याय व्यय रूप से हैं। तथा दोनों पर्यायों के मध्य अनुस्यूत रचित द्रव्य ध्रौव्य रूप से विद्यमान है। इस प्रकार से द्रव्य का उत्पाद, व्यय ध्रौव्य ऐसा त्रिलक्षणपना घटित होता है।^{१४}

प्रत्येक द्रव्य नित्य स्थायी है नित्य स्थायी द्रव्य लटकते हुए हार की भाँति सदैव परिणमित होता है उसके परिणाम अपने-अपने अवसर में प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार मोती की माला में मोती का क्रम निश्चित है माला फिराने से वह क्रम उल्टा सीधा नहीं होता। उसी प्रकार द्रव्य की अनादि अनंत पर्यायमाला पर्यायों की पंक्ति है। उसमें प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है, कोई पर्याय आगे पीछे नहीं होती।^{१५} इसे हम सिनेमा की रील व नक्षत्र

माला के स्वरूप से भी समझ सकते हैं ।

जिस जीव का, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जो जन्म मरण जिन देव ने नियत रूप से केवल ज्ञान में जाना है उस जीव का उस देश में, उस काल में, उस विधान से जनम-मरण, लाभ-अलाभ या सुख दुःख नियम से होता है उसे दूर करने में इन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं । ऐसा वस्तु का क्रमबद्ध परिणामन निश्चित है और ऐसा मानने वाला ही सम्यग्दृष्टि है ।^{१६}

इन सब तथ्यों से हमें वस्तु के गुणपर्याय एवं उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक स्वरूप का ज्ञान होता है । वस्तु में पर्यायों का प्रवाह क्रम द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा पूर्ण व्यवस्थित एवं सुनिश्चित है । उसके क्रमबद्ध प्रवाह में कोई परिवर्तन नहीं होता । सर्वज्ञ ने जैसा वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष जाना है । उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से क्रमबद्ध परिणामन होता है वस्तु कभी भी अपने क्रमनियमित स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती और सदाकाल अपने क्रम से अवस्था से अवस्थान्तर होती रहती है । अतः इष्टनिष्ठ मानकर सुखी-दुःखी होना निष्फल है ऐसे विचार से दुख मिटता है, व परकर्तृत्व बुद्धि का अभाव होता है ।^{१७} इस प्रकार सर्वज्ञता वस्तु के क्रमबद्ध परिणामन की सिद्धि में एक प्रबल हेतु बनती है ।

निष्पन्न पर्यायों की क्रमबद्धता स्वीकार करने में तो जगत को कोई बाधा नजर नहीं आती, किन्तु जब अनिष्पन्न भावी पर्यायों को भी निश्चित कहा जाता है, जो जगत चौंक उड़ता है उसे लगता है कि यदि सब कुछ निश्चित ही है तो फिर हमारा यह करने धरने पर पुरुषार्थ सब बेकार है और ऐसे अभिप्रायवश क्रमबद्ध पर्याय समझने में जगत के जीव सर्वज्ञ पर ही अनेक शंकाएँ करने लगते हैं । जैसा कि-

१. सर्वज्ञ भगवान भूत और वर्तमान काल को जानते हैं परन्तु भविष्य को नहीं जानते, क्योंकि वह तो अभी हुआ ही नहीं है, अतः भविष्य को कैसे जानेंगे ?

२. सर्वज्ञ भविष्य को जो जानते हैं, परन्तु सशर्त जानते हैं । जैसे जो पुण्य करेगा, वही सुखी होगा । जो पढ़ेगा, वही पास होगा आदि ।

३. ऐसा कहा जाता है कि सर्वज्ञ तो उन्हें प्रशंसा में कह दिया है । वास्तव में सर्वज्ञ नहीं है । जिस प्रकार विशेषण लगाते हुए हम अतिशयोक्ति कहते हैं उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान को भी अतिशयोक्ति में सर्वज्ञ कहा है वे हैं नहीं । अथवा निमित्तज्ञानियों

के समान सर्वज्ञ भगवान को विशेष रूप से जानते हैं क्योंकि उनका ज्ञान अत्यंत विशाल है। अतः उन्हें सर्वज्ञ कह दिया है।

इस तरह जगतजन वचन के तौर पर तो स्वीकार करते हैं कि सर्वज्ञ है, पर उसे भविष्यज्ञ मानने से भी इंकार करते हैं। जबकि सर्वज्ञ का अर्थ त्रिकालज्ञ होता है। जो भविष्य को न जाने वह सर्वज्ञ कैसा? अथवा एक विषय का ज्ञाता विशेषज्ञ हो सकता है पर उसे सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञ की व्याख्या तो ऐसी है कि जो सबको जाने सो सर्वज्ञ। कहा भी है- 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'^{१८}

अर्थात् केवल ज्ञान का विषय तो समस्त द्रव्य और उनकी त्रिकाल संबंधी समस्त पर्यायें हैं जो कुछ हो चुका है, हो रहा है और आगे भी भविष्य में होने वाला है, वह सब सर्वज्ञ के अपरिमित केवलज्ञान में वर्तमानवत् स्पष्ट झलकता है।^{१९}

चूँकि ज्ञान को आत्मा का स्वभाव अथवा स्वाभाविक गुण माना गया है और उसे स्वपर प्रकाशक भी कहा गया है।^{२०} ऐसा कोई ज्ञेय नहीं है जो 'ज्ञ' स्वभावी आत्मा के द्वारा जाना न जाए। किसी विषय की अज्ञता का होना ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का कार्य है। जब ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का पूर्णतः क्षय हो जाता है तो बिना किसी रूकावट के समस्त ज्ञेयों का ज्ञान युगपत रूप से सर्वज्ञ जाने बिना नहीं रह सकता। इसी को सर्वज्ञता कहा गया है।^{२१}

आगमोक्त न्यायग्रन्थों में हमें सर्वज्ञ का यही स्वरूप देखने को मिलता है। जैन मनीषियों ने प्रारम्भ से ही त्रिकाल व त्रिलोकवर्ती अशेष पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान के अर्थ में सर्वज्ञता को पर्यवसित किया है। आचार्य कुन्दकुन्द एवं समन्तभद्र आदि अनेक दार्शनिक आचार्यों ने सर्वज्ञ सिद्धि पर अनेक मौलिक व प्रकरण ग्रन्थ लिखकर सर्वज्ञ-सिद्धि सिद्ध की है, यह मात्र अतिशयोक्ति रूप विशेषण नहीं है।

यदि हम वस्तु की भविष्य कालीन पर्यायों को क्रमबद्ध न मानें तो केवलज्ञान में उनका प्रत्यक्षत्व कैसे हो सकेगा। ऐसा सर्व साधारण भी कह सकते हैं कि जो पढ़ेगा, वह पास होगा। यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत की) पर्यायें प्रत्यक्ष न हों, तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा?^{२२}

इसे हम ज्ञेय के ज्ञान की विषयता की अपेक्षा व वस्तु स्वातन्त्र्य की अपेक्षा से भी समझ सकते हैं। प्रश्न है कि वस्तु की क्रमबद्ध पर्याय का ज्ञान हम अपने ज्ञान से

करते हैं या सर्वज्ञ के ज्ञान से ? यदि सर्वज्ञ के ज्ञान से करते हैं तो कोई शंका ही नहीं होना चाहिए और अपने ज्ञान से करते हैं, तो हमारे ज्ञान अज्ञान से भी वस्तु व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का परिणामन उसकी स्वयं की योग्यता से सहज, स्वाधीन, क्रमनियमित है । हम यदि वस्तु के क्रमबद्ध परिणाम व ज्ञान की अचिंत्य शक्ति को जाने तो अवश्य ही हमारी परकर्तृत्व संबंधी आकुलता का शमन होगा और ज्ञान की दिव्यता जानने में आयेगी ।

कोई पूर्वापेक्षी ऐसी शंका कर सकता है- कि जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका ज्ञान केवलज्ञान से कैसे हो सकता है ?

तब उसका समाधान यह है- कि उनका भी ज्ञान सर्वज्ञ को हो सकता है, क्योंकि केवलज्ञान के सहाय निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना उनके विनष्ट ओर अनुत्पन्न पर्यायों का ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है ।^{२३}

भविष्य को निश्चित मानने में अज्ञानी को वस्तु की स्वतंत्रता खण्डित प्रतीत होती है । पर उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान काल्पनिक सिद्ध होंगे जबकि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएं वर्षों पहिले कर दी जाती हैं और वे सत्य निकलती हैं । सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से इंकार करने का अर्थ तो समस्त जिनागम एवं जगत की व्यवस्था को तिलाञ्जलि देना होगा ।

तब कोई ऐसा प्रश्न करता है कि अपने स्वचतुष्टय में रहने वाला सर्वज्ञ सर्वव्यापी कैसे है ?

तब इसका समाधान यह है कि अतीन्द्रियता को प्राप्त केवलज्ञानी से सर्व द्रव्य व उनकी त्रैकालिक पर्यायें प्रत्यक्ष रूप से अवभाषित होती हैं । केवलज्ञानी को अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पूर्वक ज्ञान करना नहीं रह जाता । आत्मा ज्ञान प्रमाण है । ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है । ज्ञेय लोकालोक है । इस कारण ज्ञान सर्वव्यापक है । सर्वज्ञ का ज्ञान समग्र असहाय सर्वभागवत तथा लोकालोक में अज्ञान रूप तिमिर से रहित है इसीलिए सर्वज्ञ (केवलज्ञानी) सर्व व्यापक व सर्वज्ञापक हैं । जो जीव आत्मा को ज्ञान प्रमाण नहीं मानते उनके मत में आत्मा ज्ञान गुण से हीनाधिक होगा ।

तब यदि आत्मा अपने ज्ञान गुण से हीन होगा तो ज्ञान अचेतन होने से जान नहीं सकेगा और यदि आत्मा ज्ञान गुण से अधिक होगा तो वह आत्मा ज्ञान के बिना कैसे

जानेगा । अतः आत्मा ज्ञान के बराबर है और ज्ञेय आत्मा के बराबर है । ज्ञान सर्वगत होने से सर्वज्ञ भी सर्वगत (सर्वव्यापी) हैं ।^{२४}

तब कोई प्रश्न करता है कि सर्वज्ञ सर्वज्ञेयों को पृथक्-पृथक् अक्रम रूप से कैसे जानता है ?

तब उसका समाधान यह है कि सर्वज्ञ (केवलज्ञानी) सर्वज्ञेयों को अवग्रहादि क्रियाओं से नहीं जानते । अतः अक्रमिक ग्रहण होने से समक्ष संवेदन की आलम्बन भूत समस्म द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं । जैसे चित्रपट में वस्तुओं के आलेख्याकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं । वैसे ही सर्वज्ञ के ज्ञानरूप भित्ति में सर्वज्ञेय अक्रम रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं । और तब भूत, भावी और वर्तमान पर्यायें, तत्कालिक पर्यायों की भाँति विशिष्टतापूर्वक ज्ञान में वर्तती हैं । उस समय सर्वज्ञ का ज्ञान उन ज्ञेयकारों को पृथक्-पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता है ।^{२५}

कोई ऐसा भी कहता है, कि सर्वज्ञ का ज्ञान जब एक ही क्षण में त्रिकाल को जान लेगा तो अन्य समय में उसे अन्य किसी वस्तु का ज्ञान शेष नहीं रहेगा अतएव वह अचेतनवत् (जड़) हो जायेगा ?

इसका समाधान यह है कि-सर्वज्ञ का ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है । उस ज्ञान में उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक वस्तुओं के प्रतिबिम्ब स्वयं पड़ते हैं । जैसे चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार साक्षात् एक समय में भासित होते हैं, वैसे ही संसार के समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्ब प्रतिक्षण सर्वज्ञ के ज्ञान में पड़ते रहते हैं । ज्ञान का कार्य जानना है । पर जो ज्ञान पूर्णतया निरावरण व निर्दोष हो चुका है, वह सर्वाङ्ग से एक साथ ही प्रतिबिम्बवत् टंकोत्कीर्ण चित्रपट की भाँति सर्व पदार्थों के समूह का साक्षात्कार करता है, अतएव त्रिकालज्ञ होने पर भी सर्वज्ञ के ज्ञान में जड़त्व नहीं आता ।

दूसरी अपेक्षा यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान तथ दुनिया के पदार्थ दोनों ही अनंत है । अतः प्रथम क्षण में सर्वज्ञ भावी पदार्थों को 'ये भविष्य में उत्पन्न होंगे' इस रूप से जानता है न कि वर्तमान रूप से । बाद में उत्पन्न होने पर वे ही पदार्थ वर्तमान रूप से प्रतिभाषित होते हैं । अतः जिस समय जो वस्तु जिस धर्म से विशिष्ट होती है, उस समय वह वस्तु सर्वज्ञ के ज्ञान में उसी रूप से प्रतिभाषित होती है ।^{२६} अतः सर्वज्ञ को जड़त्व का प्रसङ्ग नहीं आता ।

तब कोई ऐसा कह सकता है कि सर्वज्ञ रागादि को जानते हुए भी व्याकुल क्यों नहीं होते ?

इसका सामाधान है कि वे सर्वज्ञ सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि तथा मोहादि दोषों का पूर्ण अभाव हो जाने से सर्वाङ्ग से विश्व के सर्व पदार्थों (ज्ञेयों) को जानते हैं ।^{१७} विश्व को निरन्तर देखते हुए, जानते हुए, भी सर्वज्ञ को मनः प्रवृत्ति का अभाव होने से इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता । इस कारण सर्वज्ञ व्याकुल नहीं होते ।^{१८}

सामान्य रूप से क्रमबद्ध पर्याय का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि क्रमबद्ध का सिद्धान्त नियतिवाद के समरूप है क्योंकि नियतिवादी यही मानता है कि जिसका जिस समय में, जहां, जो होना होता है वह होता ही है । प्राणियों को नियति के कारण जो भी शुभ अशुभ प्राप्त होना है, वह अवश्य ही होगा । प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, पर जो नहीं होना है वह नहीं होगा । और जो होना है उसे कोई नहीं रोक सकता । सब जीवों का सब कुछ नियत है । वह नियत गति से ही होगा । उसमें किसी प्रकार के परिणामन का पुरुषार्थ निरर्थक है । किन्तु जब हम सूक्ष्मता से दोनों सिद्धांतों का अवलोकन करते हैं तो वह विदित होता है कि नियतिवादी कार्योत्पत्ति को पूर्णतः नियति से निर्धारित मानते हैं उसमें पुरुषार्थादि अन्य कारणों का पूर्णतः निषेध करते हैं वे कार्य कारण व्यवस्था को पूर्णतः अस्वीकृत करते हैं । इस प्रकार एकान्त नियतिवादी पुरुषार्थादि अन्य समवायों की उपेक्षा कर एकान्त का आश्रय लेकर स्वछन्दता का पोषण करता है । जबकि क्रमबद्ध पर्याय का सिद्धान्त पुरुषार्थादि अन्य समवायों को लेकर चलता है । क्रमबद्ध पर्याय के स्वरूप में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है कि प्रत्येक कार्य जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस निमित्त व पुरुषार्थ पूर्वक जैसा होना होता है । वैसा ही होता है अन्यथा नहीं । अर्थात् कार्य जब होना होगा पंच समवायों (स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, काललब्धि व होनहार) पूर्वक ही होगा । 'काल, स्वभाव, निमित्त और पुरुषार्थ इन पांच कारणों में से किसी एक से कार्योत्पत्ति मानना एकान्त है, मिथ्यात्व है, और पांच समवाय से कार्योत्पत्ति मानना अनेकान्त है, सम्यक्तव है ।'^{१९}

उक्त सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि क्रमबद्ध पर्याय में हमें काल संबंधी एकांत ही क्यों नजर आता है ? क्षेत्र, भाव सा निमित्त संबंधी क्यों नहीं ? जबकि क्रमबद्ध पर्याय के स्पष्टीकरण में स्पष्ट कहा

गया है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस विधान व निमित्त से जैसी होनी होगी उस द्रव्य की वह पर्याय उस क्षेत्र में, उस काल में, उसी विधान व उसी निमित्त से वैसी ही होगी।

जैसे केवलज्ञान जीव को ही होगा, अजीव को नहीं। भव्य को ही होगा, अभव्य को नहीं। यह द्रव्य संबंधी नियमितता है। केवलज्ञान क्षपक श्रेणी रूप ध्यान (विधि) से ही होगा तथा ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के अभाव (निमित्त) पूर्वक ही होगा-यह विधान और निमित्त संबंधी नियमितता है। जब इसमें आपको कोई शंका नहीं तो काल संबंधी नियमितता में ही शंका क्यों ?

इसका कारण है अज्ञानी का उतावलापन। पर्याय की अचलता का ज्ञान न होने के कारण अज्ञानी में एक प्रकार का उतावलापन पाया जाता है कि इतनी प्रतीक्षा कौन करे, कार्य जल्दी होना चाहिए। लोक में भी देखा जाता है कि जिसे किसी काम को होने का काल समीप दिया जाता है, वह सहज स्वीकार कर लेता है। पर जिसे लम्बा काल दिया जाता है तो वह उसे बदलवाने का यत्न करता है, उसे काल स्वीकार नहीं होता। उसमें काल को बदलने की वृत्ति का उतावलापन बना ही रहता है। यह वृत्ति ही उसे स्वीकार नहीं करने देती कि कार्य जब होना होगा तभी होगा।

नियतिवादी पुरुषार्थ का अभाव मानता हुआ केवल भाग्य भरोसे बैङ्गकर होनहार का इंतजार करता है यह इसकी कपोल कल्पना मात्र है। ऐसी कल्पनाओं से कार्य नहीं होता। इसीलिए नियतिवादी को 'स्वच्छन्दी' तथा मिथ्यात्व का पोषण करने वाला 'गृहीत मिथ्यादृष्टि' भी कहा है।^{३०}

इससे यह स्पष्ट है कि पांचों समवाय पूर्वक ही कार्य होता है। किसी एक समवाय से कार्य की सिद्धि मानना अज्ञान है। कार्य की पूर्णता में स्वभाव की स्वीकृति, पुरुषार्थ का प्रयोग, निमित्त की उपस्थिति, काल की प्राप्ति, होने योग्य कार्य का होना आदि समवाय एक साथ घटित होते हैं। अतः पांच कारणों रूप समवाय से कार्योंत्पत्ति मानने को सम्यक् नियतिवाद भी कहा जाता है। लेकिन जब कथन किया जाता है तो किसी समवाय विशेष की मुख्यता से कथन किया जाता है, किन्तु उसमें अन्य समवाय गर्भित रहते हैं, उनका निषेध नहीं होता।

क्रमबद्ध पर्याय का सही स्वरूप न समझने वाले कहते हैं कि काल को नियत मानने पर पौरुष व्यर्थ चला जायेगा ? किन्तु उनका कथन सिद्धांत विरुद्ध है, क्योंकि

द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नहीं हो सकता। यदि काल को भी अनियत माने तो काललब्धि कोई चीज नहीं रहेगी तब तो संसार काल पूर्ण किये बिना मुक्ति का प्रसङ्ग आयेगा, जो आगम विरुद्ध है। अतः काल भी नियत है और पौरुष की आशंका भी व्यर्थ है। क्योंकि समय से पहले किसी कार्य को पूरा कर लेने से ही पौरुष की सार्थकता नहीं होती, किन्तु समय पर काम का हो जाना ही पौरुष की सार्थकता है।

जिस समय, जिस द्रव्य की, पर्याय होनी है वह अवश्य होगी ऐसा जानकर ज्ञानी सम्पत्ति में हर्ष और विपत्ति में विषाद नहीं करता। और न संपत्ति की प्राप्ति तथा विपत्ति के दूर करने के लिए देवी-देवताओं के आगे गिड़गिड़ाता फिरता है। ज्ञानी जीव की परमुखापेक्षिता एवं दीनता इसी सार्वभौमिक सत्य के आधार पर समाप्त हो जाती है, कि एक द्रव्य का भला बुरा नहीं कर सकते तथा क्रमबद्ध वस्तु स्वरूप में जैसा जो होना सर्वज्ञ ने देखा, जाना है उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र आदि पलट नहीं सकते।

एक कार्य के होने में अनेक कारण मिलते हैं। जहां कार्य होना होता है। वहाँ पाँच समवाय रूप धारण मिलते ही मिलते हैं।^{३१} पं० टोडरमल जी ने भी कार्य की निष्पन्नता में पुरुषार्थ को प्रधान रखकर काललब्धि आदि अन्य कारणों की भी अनिवार्य उपस्थिति बतायी है। सच्ची होनहार अर्थात् क्रमबद्ध पर्याय पुरुषार्थ नाशक नहीं, अपितु पुरुषार्थ प्रेरक है।

जिनमत में जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है। उसके काललब्धि, होनहार व कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है। इसलिए जो मोक्ष का उपाय करना है। उसको सर्वकारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती और जो मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं करता उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जगत में जैसे पुरुषार्थ के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। सर्वत्र ही अन्य समवाय सापेक्ष पुरुषार्थ का साम्राज्य है। वैसे ही मुक्तिमार्ग रूपी कार्य की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता में अन्य समवायों के साथ पुरुषार्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। मुक्तिमार्ग में पुरुषार्थ की परिभाषा जगत मान्यता से कुछ भिन्न है मुक्तिमार्ग में तो अपने उत्तम चेतना गुण के स्वामी होकर उसमें ही प्रवर्तन करना ही जिसका प्रयोजन है उसे पुरुषार्थ कहते हैं।^{३२} अथवा मुक्तिमार्ग में आत्मानुभवन का प्रयास ही पुरुषार्थ है। क्योंकि

पुरुषार्थ जीव द्रव्य की पर्याय है, इसलिए उसका कार्य जीव की पर्याय में होता है ; किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता । अज्ञानी जीव पर्याय में पर का कर्तृत्व मानता है और परकर्तृत्व की मान्यता वाले जीव को ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं रह सकती । क्योंकि कर्तृव्य और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है । इस प्रकार देखते हैं कि क्रमबद्ध पर्याय की सच्ची श्रद्धा का फल तो परकर्तृत्व का अहंकार टूटकर अन्तरोन्मुखी सम्यक् पुरुषार्थ का जागृत होना ही है ।

क्रमबद्ध पर्याय के निर्णय से सर्वज्ञ के द्रव्यगुण पर्याय रूप केवलज्ञान का निर्णय होता है, वस्तु स्वरूप का निर्णय होता है । और जो सर्वज्ञ का निर्णय करता है वह अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा का भी निर्णय करता है । वही परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष को प्राप्त करता है । यही क्रमबद्ध पर्याय को जानने का सुफल है ।

सर्वज्ञ व क्रमबद्ध पर्याय के निर्णय से मति व्यवस्थित हो जाती है कर्तृत्व का अहंकार गल जाता है । सहज ज्ञाता दृष्टापने का पुरुषार्थ जागृत होता है । पर में फेरफार करने की बुद्धि समाप्त हो जाती है । इस कारण सत्संबंधी आकुलता व्याकुलता चली जाती है । अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होने के साथ-साथ अनंत शांति का अनुभव होता है । सर्वज्ञ के निर्णय और क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा से इतने लाभ तो तत्काल प्राप्त होते हैं । अतः हमें सर्वज्ञ का सही स्वरूप समझने का प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए ।

सर्वज्ञता के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्रत्येक द्रव्य की भूत, वर्तमान व भावी पर्यायों का प्रवाह क्रम सुनिश्चित होने से सर्वज्ञ के ज्ञान में उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । कोई भी परमसत्ता द्रव्य के अनादि अनंत, सुव्यवस्थित प्रवाह क्रम को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं है । वस्तु की ऐसी सुव्यवस्थित व पूर्णतः क्रमबद्ध, परिणामन व्यवस्था पर कर्तृत्व की मिथ्या मान्यता का निषेध करती है । व सर्वज्ञ के अपरिमित ज्ञान व द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता का बोध कराती है ।

क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धान्त से हमें द्रव्य की सत्तात्मक, क्रियात्मक एवं ज्ञानात्मक (ज्ञान की ज्ञेय) स्वतंत्रता का ज्ञान होता है । प्रत्येक द्रव्य व उसमें निष्पन्न हो रही पर्यायों का परिणामन पूर्णतः स्वतंत्र एवं स्वाधीन होने के साथ ही क्रमबद्ध भी है । उनके क्रमबद्ध परिणामन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप संभव नहीं है । प्रत्येक द्रव्य न तो स्वयं की ही पर्यायों के क्रम में परिवर्तन कर सकता है, और न अन्य द्रव्य उसके

सुव्यवस्थित परिणमन में हस्तक्षेप कर सकता है । प्राकृतिक व्यवस्थाएं भी वस्तु के इस पूर्णतः क्रमबद्ध व व्यवस्थित परिणमन को प्रगट करती हैं ।

सर्वज्ञ का स्वरूप समझने में सर्वज्ञता एक प्रबल हेतु है जैन दर्शन की यह एक नितान्त मौलिक विशिष्टता है कि उसमें सर्वज्ञ को मात्र धर्मज्ञ, वेदज्ञ या धर्म प्रवर्तक के रूप में ही मात्र स्वीकार नहीं किया है, अपितु सर्वज्ञ को अतीन्द्रिय सकल प्रत्यक्ष, असहाय सर्वभावगत, लोकालोक में अज्ञान तिमिर से रहित, दर्पणवत् प्रतिबिम्ब रूप से, चित्रपटवत् टंकोत्कीर्ण रूप से, अन्तकृति, स्वपर प्रकाशक, त्रिलोक व त्रिकालवर्ती अनंत पदार्थों व उनके परिणमन का युगपत् रूप से सर्वदर्शी व सर्वज्ञाता स्वीकार किया है । जिससे सर्वज्ञ के अपरिमित ज्ञान की दिव्यता व द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता का बोध होता है । हम भी ज्ञान स्वभावी हैं अतः हम भी वीतरागज्ञान स्वभावी आत्मा की साधना द्वारा उस सर्वज्ञ पद को प्रगट कर सकते हैं ।

क्रमनियमित क्रमबद्ध हैं, जग की सब पर्याय ।
निर्णय हो सर्वज्ञ का, दृष्टि निज में आय ॥

अध्येता, दर्शनशास्त्र विभाग,
डॉ० हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

संदर्भ

१. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्यास, सूत्र ३८
२. उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्, वही सूत्र ३८
३. गुणपर्यायवद द्रव्यम्, वही सूत्र ४०
४. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः, वही सूत्र ४२
५. परमार्थप्रकाश
६. पंचास्तिकायसंग्रह
७. समयसार गाथा २
८. पंचास्तिकाय गाथा १८

९. प्रवचनसार गाथा ४२
१०. जैनतत्त्वमीमांसा, पृ० २६८
११. समयसार गाथा ३०८ की टीका
१२. परमार्थप्रकाश
१३. जैनतत्त्वमीमांसा पृ० २६८
१४. प्रवचनसार गाथा ९९ की टीका
१५. ब्र० हरिलाल, ज्ञानज्ञेयमीमांसा, गाथा ९९ की टीका पर प्रवचन
१६. कार्तिकेय अनुप्रेक्षा, गाथा ३२१-३२३
१७. अष्टपाहुड (मोक्षपाहुड) गाथा ८६ का पं० जयचंद छाबड़ाकृत हिन्दी भावार्थ
१८. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय १, सूत्र २९
१९. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र २९
२०. अष्टसहस्री मूल पृ० २६
२१. प्रवचनसार गाथा ३८
२२. प्रवचनसार गाथा ३९
२३. धवणा पु० ६/१
२४. प्रवचनसार गाथा २१-२६
२५. प्रवचनसार गाथा ३७
२६. जैनन्याय, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ० १७६
२७. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा ३७
२८. नियमसार गाथा १६७
२९. आ० सिद्धसेन सम्मइ सुतं अ० ३ भाग ५३
३०. गोम्मटसार कर्मकाण्ड
३१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय ९, पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्ति ।
३२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका श्लोक १



तंत्रयुक्ति—विमर्श

डॉ० राजेश्वर सिंह

प्रस्तुत शोध-पत्र में तंत्रयुक्तियों की व्याख्या सांख्यकारिका की महत्वपूर्ण टीका युक्तिदीपिका के आलोक में करने का प्रयास किया जा रहा है। युक्तिदीपिका, विज्ञान की विश्लेषणात्मक शैली एवं संवाद की शास्त्रीय पद्धति पर लिखा गया एक वार्तिक कोटि का ग्रंथ है जिसके उपोद्घात में तंत्रयुक्तियों की विस्तृत चर्चा की गयी है। किसी भी शास्त्र की रचना के लिए तंत्रयुक्तियों को एक आदर्श मानदण्ड या उपाय के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है और ये तंत्रयुक्तियाँ शास्त्र रचना में सहायक होने के साथ ही शास्त्र को समझने में व्यक्ति की सहायता करती हैं। आचार्य माङ्गर 'तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्'^१ में प्रयुक्त 'तंत्र' शब्द का अर्थ ग्रंथपरक ही करते हैं किन्तु यह सामान्य ग्रंथ नहीं है। उन्हीं के शब्दों में 'तम् एव खल्विदमग्र आसीत् तस्मिस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभिवर्तते प्रथमम्। तम इति उच्यते प्रकृतिः, पुरुष क्षेत्रज्ञः। षष्टिपदार्था यस्मिन् शास्त्रे तन्व्यन्ते तत् षष्टितंत्रम्।'^२ अर्थात् 'तंत्र' शब्द तम् और क्षेत्रज्ञ के 'त्र' से मिलकर बना है (तम+त्र=तंत्र) जिसका अर्थ होता है ऐसा ग्रन्थ जिसमें प्रकृति एवं पुरुष की चर्चा हो। पुनः ७२वीं कारिका की व्याख्या के अवसर पर 'तंत्र' शब्द का विश्लेषण करते हुए आचार्य माङ्गर लिखते हैं कि 'तन्व्यन्ते व्यत्यद्यन्ते पदार्था इति तंत्रम्' अर्थात् जिसमें पदार्थों का विस्तार से विवेचन हो, उसे तंत्र (शास्त्र) कहते हैं।^३ इस प्रकार 'तंत्रयुक्ति' पद 'तंत्र' और 'युक्ति' इन दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ 'तंत्र' की युक्ति से है। 'तंत्र' शास्त्र को कहते हैं और 'युक्ति' पर्यायवाची शब्द है। अतः 'तंत्रयुक्ति' वह उपाय है जिसके माध्यम से किसी वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक प्रबंध की रचना की जाती है और उसके अर्थ को समझा जा सकता है। इस प्रकार 'तंत्रयुक्ति' एक तकनीकी पद है जो शास्त्र रचना की एक विधा का द्योतक है। 'तंत्रयुक्तियाँ' किसी शास्त्र की संपूर्ण अर्थ को उसी प्रकार प्रकट कर देती हैं जिस प्रकार सूर्य एवं दीपक अंधकार में पड़े हुए किसी वस्तु को प्रकाशित कर देते हैं।

यथाऽम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा ।

प्राबोधस्य प्रकाशार्था, तथा तंत्रस्य युक्तयः^४ ।

महाभाष्य^५ में तंत्र पद को विस्तार करने वाले अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया गया है जो किसी भी विषय से संबंधित विचारों एवं सिद्धान्तों को प्रकाशित करता है, उनका नियोजन करता है। तंत्र की पारम्परिक परिभाषा भी इसी अर्थ को प्रकट करती है—

‘तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।

त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ।’

आचार्य शंकर शर्मा के अनुसार जिसके द्वारा शास्त्राभिमत अर्थ को विरोध, व्याघात आदि दोषों से रहित करते परस्पर सम्यक् रूप से संबद्ध किया जाता है वह युक्ति है क्योंकि युक्तिशब्द उपायबोधक है । इन युक्तियों को जाने बिना तंत्र रचना नहीं की जा सकती । नीलमेघ ने भी शास्त्र की रचना एवं उसके अर्थ को सुसंगत बनाने में तंत्रयुक्तियों के महत्व को स्वीकार किया है । तंत्रयुक्तियों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद है । युक्तिदीपिकाकार ने कुल चौदह तंत्रयुक्तियों को स्वीकार किया है —

सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिरन्यूनता संशयनिर्णयोक्तिः ।

उद्देशनिर्देशमनुक्रमश्च, संज्ञोपदेशविहतंत्रसम्पत् ॥^७

सूत्र, प्रमाण और अवयवों की उत्पत्ति, अन्यूनता, संशय और निर्णय का कथन, उद्देश, निर्देश, अनुक्रम, संज्ञा, और उपदेश-शास्त्र के गुण हैं । इनके अतिरिक्त उत्सर्ग, अपवाद और अतिदेश को भी बताकर कहा गया है कि इसी प्रकार अन्य तंत्रयुक्तियों को भी यहां दिखाया जा सकता है । विस्तारभय से उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है ।^८ यह उपसंहारात्मक कथन स्पष्टतया संकेत करता है कि तंत्र के गुण ही ‘तंत्रयुक्ति’ के नाम से जाने जाते हैं और युक्तिदीपिका में वर्णित उपर्युक्त १४ तंत्रयुक्तियों के अतिरिक्त अन्य तंत्रयुक्तियों से भी लेखक परिचित था ।^९ तंत्रयुक्तियों के प्रयोजन एवं महत्व का उल्लेख न किया जाना भी इस बात को सिद्ध करता है कि लेखक के समय में इनका महत्व एवं आवश्यकता सर्वज्ञात थी ।

सर्वप्रथम पाणिनि की अष्टाध्यायी में हमें तंत्रयुक्तियों का उल्लेख मिलता है जिसमें हेत्वर्थ, उपदेश, अपदेश, अतिक्रान्तावेक्षण, अनागतावेक्षण, संशय, वाक्याध्याहार, अनुमत, अतिशयवर्णन, निर्वचन, स्वसंज्ञा, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, अतिदेश और विकल्प इन पन्द्रह तंत्रयुक्तियों की स्पष्ट व्याख्या है । इनके अतिरिक्त प्रत्युत्सार, अपवाद, समुच्चय, पदार्थ, योग, नैकान्त, विपर्यय, नियोग एवं प्रदेश इन नौ तंत्रयुक्तियों का उल्लेख मिलता है । इस प्रकार इन चौबीस तंत्रयुक्तियों के साथ संगति, मंगल, अधिकार और विधान को जोड़कर कुछ विद्वानों का मानना है कि पाणिनि ने कुल २८ तंत्रयुक्तियों का प्रयोग किया है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ३२ तंत्रयुक्तियाँ गिनायी गयी हैं— अधिकरण, विधान, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, अतिदेश, प्रदेश, उपमान, स्वसंज्ञा, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एकांत, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, नियोग, विकल्प, समुच्चय और ऊह्य । सुश्रुतसंहिता और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी इन्हीं ३२ तंत्रयुक्तियों

को माना गया है किन्तु चरकसंहिता में इनके अतिरिक्त नैकांत, प्रत्युत्सार, उद्धार और संभव इन चार तंत्रयुक्तियों के साथ कुल ३६ तंत्रयुक्तियों को स्वीकार किया गया। वाग्भट्ट और नीलमेघ ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया। इनके क्रम और नामकरण में कुछ अंतर अवश्य दिखाई देता है।

युक्तिदीपिका में वर्णित १४ तंत्रयुक्तियों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में प्राप्त तंत्रयुक्तियों की संक्षिप्त व्याख्या निम्नवत् है—

१. सूत्र - युक्तिदीपिका में सूत्र की दो परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है।

‘अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।’

अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः^{१०} ।।

अर्थात्-सूत्र के ज्ञाता आचार्य ‘अल्पाक्षरम्’ अर्थात् जिसमें कम अक्षर हो और असन्दिग्ध हो’, सारगर्भित हो, विश्वतोमुखम् अर्थात् व्यापक अर्थवाला हो, ‘अस्तोभम्’ अर्थात् पुनरुक्ति से रहित हो तथा निर्दोष हो, उसे सूत्र मानते हैं।

पुनश्च-लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च ।

सर्वतः सारभूतानी सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ।।^{११}

अर्थात्-विद्वान् जन स्वरूपतः लघु आकार वाले तथा अर्थ को सूचित करने वाले, कम अक्षर और पदवाले तथा सर्वतोभावेन जो सारभूत हैं, उन्हें सूत्र कहते हैं। इस प्रकार सूचित करने के कारण किसी संक्षिप्त वाक्यविशेष को सूत्र कहा जाता है अर्थात् जो उन-उन विशिष्ट अर्थों को सूचित करे वह सूत्र है जैसे—‘कारणमस्त्यव्यक्तम्’ और ‘भेदानां परिमाणत्’ कारिकागत ये अंश सूत्र हैं। यहाँ केवल प्रतिज्ञा एवं हेतु का कथन किया गया है। उनके उपयोगी दृष्टान्त, उपनय एवं निगमन की सूचना इन्हीं से मिल जाती है। अतः उन्हें मूलरूप से अथवा अंगरूप में कहने की आवश्यकता नहीं है। अथवा सूत्र वह है जो बाह्येन्द्रियों एवं अंतःकरणों को अपने वश में करने वाले योगी के प्रधानादि अतीन्द्रिय विषयों के ज्ञान को सूचित करे अथवा ‘सौक्ष्मात्तदनुपपत्ति’ (का०—१८) यह सूत्र है।^{१२}

२. प्रमाण - यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है। (प्रमा करणं प्रमाणम्) ईश्वरकृष्ण^{१३} ने तीन प्रकार के प्रमाण माने हैं दृष्ट, अनुमान एवं आप्त, इन प्रमाणों के लक्षणादि का सम्यग्विवेचन सांख्यकारिका में किया गया है। ईश्वरकृष्ण के अनुसार चूँकि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों के द्वारा होती है। (प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धिः, का०-४)। इसलिए शास्त्र में इनका विवेचन आवश्यक है क्योंकि इनके द्वारा ही शास्त्रप्रतिपादित पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है।

३. **अवयव** - दर्शनिक विवेचन में 'अवयव' का तात्पर्य परार्थानुमान को व्यक्त करने वाले प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, आदि वाक्यों से है। भारतीय दर्शन में न्याय की पञ्चावयवीय परम्परा का ही अधिक प्रचलन है किन्तु कुछ लोग केवल दो, कुछ लोग केवल तीन और कुछ लोग केवल चार अवयवों को ही आवश्यक मानते हैं। युक्तिदीपिका में १० अवयवों को स्वीकार किया गया है जिनमें जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास इन—पाँच अवयवों को व्याख्यांग और प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपसंहार (उपनय) और निगमन को परप्रतिपादनांग कहा गया है।

युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि यद्यपि सूत्रकार ने इनका कथन नहीं किया है फिर भी इनके होने का अनुमान हम कुछ लिंगों द्वारा कर सकते हैं। जैसे—**दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा, तदपाघातके हेतौ** (का० १) से प्रतिज्ञा का कथन किया गया है। **'भेदानां परिमाणात्'** (का०-१५) से हेतु को बताया गया है। **'नटवद् व्यवतिष्ठते लिंगम्'** (का०-४२) से उपसंहार (उपनय) को और 'दृष्टांत' को **'क्षीरस्य यथा, तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य'** (का-५७) से उपसंहार (उपनय) को और **तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि'** (का०-३५) से निगमन को बताया गया है। सूत्रकार ने इन अवयवों का कथन अलग से नहीं किया क्योंकि ये प्रमाणों में ही अन्तर्भूत हैं। जिज्ञासादि सभी अवयव अनुमान प्रमाण के अंग हैं। संक्षेपतः, तंत्रान्तर में उपदिष्ट होने के कारण सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने अवयवों का पृथक् कथन नहीं किया है।^{१४}

४. **अन्यूनता** - शास्त्र प्रतिपाद्य सम्पूर्ण पदार्थों का विवेचन ही अन्यूनता है और यह गुण सांख्यकारिका में है क्योंकि परमर्षि कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र में जिन ६० पदार्थों का वर्णन है उनका विवेचन यहाँ किया गया है। १० मौलिक पदार्थ हैं- प्रधान का अस्तित्व, एकत्व, अर्थवत्ता, अन्यूनता, परार्थ्य और पुरुष का बहुत्व, वियोग योग, शेषवृत्ति एवं अकर्तृत्व, १५ प्रकार के विपर्यय, ९ प्रकार की तुष्टियाँ, ८ सिद्धियाँ और २८ प्रकार के करणवैकल्य-ये ही ६० पदार्थ हैं जिनका विवेचन सांख्यकारिका में पूर्णरूपेण किया गया है।^{१५}

५. **संशय** - 'संशयो नाम विरुद्धानां पक्षाणामनिश्चयः' अर्थात् अनवधारणात्मक ज्ञान को संशय कहा जाता है। क्योंकि यहाँ एक ही पदार्थ में दो परस्पर विरुद्ध धर्मों के होने का अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है।^{१६} युक्तिदीपिका में सामान्य कथन को संशय कहा गया है।^{१७} जैसे—'महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च । अर्थात् महदादि कार्यं प्रकृति के असमान है और समान भी (का०-८) ऐसा कहने पर संशय होता है कि किन गुणों के कारण ये प्रकृति से भिन्न स्वरूप वाले हैं और किन गुणों के कारण प्रकृति

के समान हैं ? शास्त्र रचना में इस युक्ति द्वारा दो विरोधी गुणों अथवा मतों को समझने में सहायता मिलती है ।

६. **निर्णय** - संशय का परिहार करते हुए एक निश्चित अर्थ की स्थापना निर्णय है । युक्तिदीपिका में विशेष कथन को निर्णय कहा गया है ।^{१८} यह शब्द और अर्थ के अनुसार दो प्रकार का माना गया है । (शब्दतोऽर्थतश्च) । शाब्दिक का उदाहरण-सकारण होने से महदादि । कार्य प्रकृति से भिन्न स्वरूप वाले हैं । (का०-१०) और त्रिगुणात्मक होने से ये प्रकृति के समान हैं (का०-११) आदि । अर्थ के अनुसार निर्णय का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि इन (तन्मात्रों) से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं जो 'विशेष' कहे जाते हैं इसलिए शान्त घोर और मूढ़ है। (का०-३८) जबकि तन्मात्र अशांत, अघोर और अमूढ़ हैं, अतएव 'अविशेष' हैं । इस तन्त्रयुक्ति द्वारा अक्षरों का उत्तर दे दिया जाता है और जिस विषय में सन्देह हुआ है उसका निर्धारण होता है । इसे संशय्युदास भी कह सकते हैं क्योंकि यहाँ उत्पन्न संशय का शमन तत्त्व के वास्तविक स्वरूप निर्धारण के पश्चात् हो जाता है ।

७. **उद्देश** - प्रतिपाद्यविषय का संक्षेप में कथन उद्देश कहलाता है । जैसे-'**एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्या**' (का०-४६) यहाँ ५० पदार्थों का संक्षेप में कथन किया गया और यह नहीं बताया गया कि विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धियाँ कितने प्रकार की हैं । इस युक्ति द्वारा विषयों का संक्षिप्त परिचय पाकर अध्येता में उनके स्वरूप को विस्तार से जानने की उत्सुकता होती है ।^{१९}

८. **निर्देश** - प्रतिपाद्य विषय जिसका उद्देश (संक्षिप्त कथन) किया गया है— का विस्तारपूर्वक विवेचन निर्देश कहलाता है (**विस्तारवचनं निर्देश**) । जैसे सांख्यकारिका ४६ में ५० पदार्थों का संक्षिप्त कथन करके अगली कारिकाओं में उनके भेदों एवं अवान्तर भेदों को बताते हुए विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है— '**पंच विपर्यय भेदाभवन्ति**' (का०-४७) **भेदस्तमसोऽष्टविधः** (का०-४८ इत्यादि) ।

९. **अनुक्रम** - '**पदार्थानामानुपूर्व्या सन्निवेशोपदेशोऽनुक्रमः**' अर्थात् किसी भी शास्त्र में प्रतिपाद्य विषयों का यथाक्रम विवेचन अनुक्रम कहलाता है ।^{२०} जैसे प्रकृति से महद् , महद् से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्र और पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूत (का०-२२) इत्यादि क्रम से तत्त्वों का निरूपण करने से उनके स्वरूप का प्रतिपादन स्पष्ट एवं सुसंगत बनता है ।

१०. **संज्ञा** - '**संज्ञोपदेशो संज्ञिप्रत्यायनार्थः शब्दः संज्ञा**' अर्थात् अपने द्वारा इंगित विषय का ज्ञान कराने वाला पद संज्ञा है^{२१} जिसके द्वारा किसी विषय का बोध होता

है वह संज्ञा है और जिसका बोध होता है वह संज्ञी कहलाता है । यह दो प्रकार की होती है- अर्थनिबन्धना (शब्दिक) और स्वरूपनिबन्धना । अर्थनिबन्धना संज्ञा किसी विषय की सोद्देश्य क्रिया की अपेक्षा से होती है और अपनी जाति (वर्ग) में अन्तर्भूत विषय को संज्ञी के अनुरूप बताती है जैसे पाचक (पकाने वाला), लावक (काटनेवाला) इत्यादि । अर्थात् अर्थनिबन्धना संज्ञा में अर्थ (विषय या संज्ञी) जैसा होता है द्वािक उसी रूप में उसकी प्रतीति कराने की शक्ति होती है जैसे - पाचन क्रिया करने वाले किसी भी व्यक्ति को 'पाचक' कहेंगे- पाचक वही कहलायेगा जो पाचन का कार्य करे अन्यथा उसे पाचक नहीं कहा जायेगा जबकि स्वरूपनिबन्धना संज्ञा अपने संज्ञी का ज्ञान कराने का उपाय मात्र है जो तदनुरूप विषय के न होने पर भी अपने स्वरूप से ही उसका ज्ञान करा देती है, जैसे- गजकर्ण, अश्वकर्ण इत्यादि (क्योंकि ये नाम किसी को भी दिया जा सकता है चाहे उसका गज या अश्व की तरह कर्ण हो या न हो) । प्रयत्नपूर्वक परमर्षि भगवान् कपिल ने आर्षज्ञान द्वारा सांख्यशास्त्र के सभी तत्त्वों के स्वरूप को जानकर ही उनको नाम (संज्ञा) दिया अतएव यहाँ स्वरूपनिबन्धना संज्ञा नहीं है, उनका शब्दिक अर्थ है जैसे जो विकारों को धारण करता है वह प्रधान है (प्रधीयन्ते विकाराऽत्र इति प्रधानम्) और जो शरीर में रहता है वह पुरुष है (पुरिशेते इति पुरुषः) इत्यादि ।

११. उपदेश - इतिकर्तव्यता (ऐसा करना चाहिए) के फल को बताना उपदेश कहलाता है ।^{२२} जैसे- 'हमें तत्त्वाभ्यास करना चाहिए' इस इतिकर्तव्यता का फल बताते हुए कहा गया है कि- 'इस प्रकार तत्त्वाभ्यास करने से, 'मैं नहीं हूँ', 'ये मेरा नहीं है', 'मैं कर्ता नहीं हूँ', इस प्रकार पूर्ण, यथार्थ एवं विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है (का०-६४) शास्त्राध्ययन के फल का उपदेश जिज्ञासु की उसके प्रति प्रवृत्ति को जगाने के लिए आवश्यक होता है ।

१२.१३. उत्सर्ग एवं अपवाद^{२३} - सामान्य नियम को उत्सर्ग कहते हैं और किन्हीं विशेष कारणों से उस नियम के विरोधी का कथन अपवाद कहलाता है । जैसे- 'महदादिव्यक्त प्रकृति से भिन्न स्वरूप वाले हैं,' यह उत्सर्ग है और 'ये प्रकृति के समान हैं'-यह अपवाद है 'तत्रोत्सर्गः प्रकृतिविरूपं व्यक्तं सरूपं चेत्यपवादः,' । (का०-८) इसी तरह 'पुरुष उससे भिन्न है' (तद्विपरीतः का०-११) यह उत्सर्ग है और पुरुष उसके समान भी है (तथा च पुमान् का०-११) अपवाद है । इन दोनों तंत्रयुक्तियों का प्रयोग साथ-साथ होता है । इनसे किसी भी प्रतिपाद्य विषय के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है और सम्भावित संशय का निरसन भी हो जाता है ।

१४. अतिदेश - किसी पदार्थ के धर्मों को अन्य पदार्थ में दिखाना अतिदेश है। किसी का लक्षण इस प्रकार बताना कि वह अन्य पर भी लागू हो जाय। किसी पदार्थ के लक्षण को बताकर यह कहना कि इसी प्रकार अन्य पदार्थों को भी समझना चाहिए अतिदेश है।^{१४} जैसे 'व्यक्त' (पदार्थ) सामान्य, अचेतन, और प्रसव धर्मों है- ऐसा ही प्रधान (भी) है, (का०-११)। इस तन्त्रयुक्ति के द्वारा परस्पर सम्बंधित विषयों को जोड़ा जाता है। सम्बद्ध विषय से परे अन्य विषयों पर उक्त लक्षण को घटित किया जाता है। यह युक्ति शास्त्रध्येता को समान विषयों का ध्यानपूर्वक विचार करने को प्रेरित करती है और तत्सदृश्य ऐसे विषयों को जोड़ने के योग्य बनाती है, जिनका कथन नहीं हुआ रहता।

उपर्युक्त १४ तन्त्रयुक्तियों की व्याख्या करने के बाद युक्तिदीपिकाकार ने अन्य तन्त्रयुक्तियों की संभावना का भी संकेत किया है^{१५} जो पाणिनि, कौटिल्य, चरक, सुश्रुत एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वर्णित है। सम्भवतः अत्यधिक प्रचलित होने के कारण युक्तिदीपिकाकार ने इन तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया किन्तु इन तन्त्रयुक्तियों के महत्व एवं शोध-पत्र की सीमा को ध्यान में रखते हुए इनका अतिसंक्षिप्त उल्लेख करना प्रासंगिक होगा— (१) **अतिक्रान्तावेक्षण**—पूर्वकथन का प्रसंगवश उल्लेख करना ताकि वर्तमान विवेच्य विषय को पुष्ट किया जा सके। (२) **अधिकरण**—विवेच्य विषय को अधिकरण कहते हैं जिसके विषय-संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, एवं निर्णय-ये पाँच अंग होते हैं। (३) **अनागतावेक्षण**—बाद में होने वाले विवेचन का प्रसंगवश उल्लेख करना कि आगे चलकर इसका वर्णन किया जाएगा। (४) **अनुमत**—बिना खण्डन किये दूसरे के मत को स्वीकार करना। (५) **अपदेश**—साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु का कथन करना। (६) **अपवर्ग**—सामान्य नियम के विरोधी का कथन अपवर्ग है। इसे युक्तिदीपिका में अपवाद कहा गया है। (७) **अर्थापत्ति**—प्रयुक्त शब्द द्वारा अव्यक्त अर्थ ग्रहण करना अर्थापत्ति है। (८) **उत्तरपक्ष**—प्रतिपक्षी के कथन का खंडन करते हुए उसका उत्तर देना एवं अपने सिद्धांत की स्थापना करना उत्तरपक्ष है। (९) **उद्धार**—परपक्ष में दोष दिखाते हुए स्वपक्ष का दृढ़तापूर्वक कथन उद्धार है। (१०) **उपमान**—सादृश्य के आधार पर ज्ञात विषय से अज्ञातविषय का ज्ञान। (११) **ऊह्य**—ग्रंथ में स्पष्ट रूप से जो नहीं कहा गया है, प्रज्ञा एवं तर्क द्वारा उसकी उपस्थापना ऊह्य है। (१२) **एकांत**—जो अव्यभिचरित रूप से सदैव सर्वत्र एक सा रहे। (१३) **दृष्टांत**—विषय को सुबोध एवं सुस्पष्ट करने के लिए किया गया कथन। (१४) **निदर्शन**—ऐसा दृष्टांत जिससे अन्य का प्रकाशन हो सके और जिसे मूर्ख एवं विद्वान दोनों समझ सकें। (१५) **नियोग**—शास्त्र की आज्ञा को नियोग कहते हैं। (१६)

निर्वचन—शाब्दिक व्युत्पत्ति द्वारा विषय के स्वरूप का बोध करना निर्वचन है । (१७)
नैकांत—अपवाद से युक्त कथन जो कभी-कभी सत्य न भी हो । (१८) **पदार्थ**—पद के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला अर्थ । (१९) **पूर्वपक्ष**—विरोधी मत की स्थापना जिसका कि खंडन बाद में कर दिया जाता है । (२०) **प्रत्युत्सार**—दूसरे के मतों का उपपत्ति पूर्वक निवारण अथवा किसी कथन के आदि या मध्य में लुप्त पदों को बताना प्रत्युत्सार है । (२१) **प्रदेश**—जब विषयों को अनेक होने से उनका एक साथ संपूर्णता में कथन न कर सकने के कारण उनके एक भाग का ही कथन होता है तो वह प्रदेश कहलाता है । (२२) **प्रयोजन**—जिसके संपादन के लिए शास्त्र प्रवृत्त होता है । (२३) **प्रसंग**—पूर्वोक्त विषय का किसी संबंध कि अपेक्षा से पुनः कथन करना । (२४) **योग**—उद्देश और निर्देश को अथवा सूत्र एवं भाष्य को जोड़ना योग कहलाता है । (२५) **वाक्यशेष**—वाक्य को पूर्ण करने वाला पद वाक्यशेष है । (२६) **विकल्प**—विभिन्न संभावनाओं पर विचार करना विकल्प है । (२७) **विधान**—शास्त्रगत विषयों का प्रकरण के अनुसार निर्धारण करना । (२८) **विपर्यय**—वैध रूप से स्वीकृत विपरीत मत । (२९) **व्याख्यान**—किसी विषय के विशिष्ट स्वरूप का विवेचन करना । (३०) **समुच्चय**—परस्पर एक दूसरे से भिन्न अनेक विषयों का एक में समन्वय । (३१) **संभव**— जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका संभव है । (३२) **हेत्वर्थ**—किसी विषय को सिद्ध करने वाला हेतु हेत्वर्थ है ।

इन तंत्रयुक्तियों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ प्रधान हैं और कुछ गौण । ये युक्तियाँ इस प्रकार से आगमनात्मक युक्तियाँ हैं जिनके प्रयोग से शास्त्र में अस्पष्टता, द्वयर्थता, असंगति, विरोध आदि दोषों के दूर होने की सम्भावना बढ़ती है । इन्हें निगमनात्मक युक्ति के रूप में अथवा मूल्यांकन की कसौटी के रूप में नहीं रखा जा सकता है । वस्तुतः ये मात्र उपाय हैं, जिनके माध्यम से शास्त्र के वास्तविक अर्थ को समझा जा सकता है और ये शास्त्र रचना में भी सहायक होते हैं ।

दर्शन विभाग

वी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय,

मुजफ्फरपुर

संदर्भ सूची

१. सांख्यकारिका - ७०.
२. सांख्यकारिका - 'माठरवृत्ति'-संवलिता, संपा० एवं व्याख्याकार पं० थानेश चन्द्र उप्रेती, पृ०-२११, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९९० ।
३. वहीं, पृ० २१३ ।
४. वी० एस० आपटे ने 'तंत्र' शब्द का अर्थ शास्त्र के अतिरिक्त मुख्य, सिद्धांत, नियम, वाद आदि भी किया है । (संस्कृत-हिन्दी कोश, छात्र संस्करण, नाग प्रकाशन, दिल्ली) पृ०-४२० ।
५. चरक संहिता-भाग-२/४६, लाहौर-१९४०/इसमें तंत्र के कई समानार्थक पदों का संकेत किया गया है जैसे-आयुर्वेद, शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र आदि ।
६. महाभाष्य १/४/५४ ।
७. युक्तिदीपिका-उपोद्घात, हिन्दी व्याख्याकार एवं संपादक-आचार्य श्री केदारनाथ त्रिपाठी पृ०-४, प्रकाशक-सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, प्रथम-संस्करण-१९९६ ।
८. वही ।
९. वही ।
१०. वही पृ०-५
११. वही पृ०-६
१२. वही पृ०-५
१३. सांख्यकारिका—४, ५, ६
१४. युक्तिदीपिका, उपोद्घात - पृ०-११
१५. युक्तिदीपिका, उपोद्घात, श्लोक, १०, १२, पृ०-२-३
१६. संशयो नाम विरुद्धानां पक्षाणामनिश्चयः तन्त्रयुक्तिविचार, अवतारिका—१, पृ०-३ ।
१७. युक्तिदीपिका, पृ०-१२
१८. वही, 'विशेषाभिधानं निर्णयः' ।
१९. युक्तिदीपिका, पृ०-१३, 'संक्षिप्तवचनमुद्देश' ।
२०. वही ।

{ 74 }

वर्ष 52-दार्शनिक त्रैमासिक - अंक - 3

पदार्थो नामानुपूर्व्यो सन्निवेशोपदेशोमनुक्रमः ।

२१. वही ।
२२. वही, पृ०-१४
२३. वही, पृ०-१५
२४. नीलमेघ, तन्त्रयुक्तिविचारः, पृ०-२
'अन्यसम्बन्धिनां धर्माणामन्यत्रवस्थापनमतिदेशः ।'
२५. युक्तिदीपिका, पृ०-१५, 'इत्येवमन्या अपि तन्त्रयुक्तयः शक्या इह प्रदर्शयितुम् ।'



भारतीय दर्शन में भाषा-विश्लेषण की समस्या

डॉ० विनोद कुमार चौधरी

भाषा मानव जीवन का वह बहुमूल्य अवदान है, जिसने भावों एवं विचारों को विनिमय शक्ति प्रदान कर समस्त मानव को मानवीय समाज के रूप में संगङ्गित तो किया है ही, साथ ही, चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की क्षमता प्रदान कर इनकी सांस्कृतिक चेतना का भी विकास किया। सृष्टि के प्रारंभ से ही यह मानवीय भावों एवं विचारों को वहन कर उन्हें विकसित एवं समृद्ध करती आ रही है। सच पूछा जाय तो भाषा के बिना न जो मानवीय चिन्तन ही संभव है और न ही मानवीय बोध का पारस्परिक सम्प्रेषण ही। भाषा की इसी महत्ता को स्वीकार करते हुए महान आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में लिखा है:—

इदमन्धन्तमः कृत्सनं जायेत भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥^१

(अर्थात् यदि शब्दरूपी ज्योति संसार में न जलती तो संसार में चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा रहता)

वस्तुतः भाषा ही सम्पूर्ण विश्व की सर्वोत्कृष्ट ज्योति है, जो मानव के हृदय के अंधकार को दूर करती है। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि भाषा के बिना मानव की क्या दयनीय स्थिति होती? महान वैयाकरण भर्तृहरि ने कहा है कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान है ही नहीं, जो बिना शब्द के हो सके। प्रत्येक ज्ञान किसी न किसी शब्द से अनुबिद्ध हुआ सा रहता है:—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥^२

(अर्थात् लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो बिना शब्द के अनुगम के होता हो। अतः सभी ज्ञान शब्द से जुड़े हुए की भाँति भासित होते हैं।)

भाषा वस्तुतः एक सामाजिक तथ्य है, सामाजिक सम्पर्क का फल है। प्रो० आटो येस्पर्सन ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वूऐज' में स्वीकार किया है कि 'ऐसा कोई समय नहीं था, जब मानव के पास कोई भाषा जैसा साधन नहीं था तथा वह पशुतुल्य मूक प्राणी था'^३। यही वाणी प्राणियों में चेतना शक्ति है, जो बाह्य लोक व्यवहार का

साधन है तथा अतःकरण के सुख-दुःख का ज्ञान कराती है, क्योंकि ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जहाँ चेतना और वाक्मात्रा न हो :—

सैषां संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।

तन्मात्रामनतिक्रान्ति चैतन्यं सर्वजन्तुषु ॥^४

क्योंकि समस्त प्राणियों का कार्य करने के लिए वाणी ही प्रेरक है और इस वाणी के बन्द हो जाने पर यह देह, काठ और भीत की तरह बिना चेतना का हो जाता है :—

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान्समीहयति देहिनः ।

तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोड्यं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥^५

भाषा के स्वरूप पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि यह काफी विशाल एवं अगाध है, क्योंकि ज्ञान विज्ञान का ऐसा कोई अंश नहीं है, जो भाषा में समाहित न हो । जिस प्रकार ब्रह्म के विराट रूप में सम्पूर्ण विश्व समाहित है, उसी प्रकार भाषा में सम्पूर्ण भाषाओं का वाङ्मय समाहित है । मानव का प्रत्येक कार्य भाषा के द्वारा ही संचालित होता है । व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समाज या व्यक्ति की सभी स्थितियों का आधार भाषा है । भाषा में निरन्तर संशोधन एवं परिष्करण की प्रक्रिया चलती रहती है । यही कारण है कि यह पुरानी होने पर भी अद्यतन बनी रहती है । भाषा में सुदृढ़ और उपादेय शब्दों को चलाये जाते हैं, साथ ही जो शब्द जीर्ण, अरुचिकर या अप्रचलित हो जाता है, उन्हें कालक्रम से हटा दिया जाता है । ऋग्वेद में कहा गया है:—‘**सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत**’ ।^६

भाषा मानव का अक्षय-कोष है । यही मानवता की पूँजी है, मानव समाज का चिर-संचित कोष है, जिसको लेकर भावी पीढ़ी अपना काम चलाती है । मानव ने सृष्टि के आरंभ से आज तक जो कुछ सोचा, समझा, जाना, देखा, साथ ही अनुभव किया उसे भाषा के द्वारा व्यक्त किया गया । यह मानव जाति का सार एवं सर्वस्व है, अतः इसे ‘रस’ कहा गया है । ऋग्वेद में इसे ‘अमृत की नाभि’ एवं ‘देवों की जिह्वा’ कहा गया है —‘**जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः**’ ।^७

भाषा का कोई अंतिम स्वस्व नहीं होता क्योंकि यह सतत् प्रवाहमय एवं गतिशील है । जिस प्रकार विश्व की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, उसी प्रकार भाषा भी परिवर्तनशील है । अतएव परिवर्तनशील वस्तु का कोई अंतिम स्वरूप नहीं होता । भाषा का मूल ‘वाक्य’ है, क्योंकि वाक्य ही वह सत्ता है, जो मानव के विचार को पूर्ण एवं स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करती है । उपयोगिता एवं शास्त्रीय दृष्टि से वाक्य ही भाषा के सार्थक अंग है । वाक्यों में पदों की सार्थकता के सम्बन्ध में भर्तृहरि का कथन है:—

यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृति प्रत्ययादयः ।

अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ॥८

वेद में भाषा को ब्रह्म का समानार्थक बताया गया है । यहाँ ब्रह्म को 'शब्द-ब्रह्म' की संज्ञा दी गयी है । उपनिषद् के अनुसार वाणी ही ब्रह्म है । यहाँ सृष्टि के बीज की प्रकृति (जिससे भवचक्र का क्रम चलता रहता है) को ईश्वरीय शब्द माना गया है । अर्थात् ईश्वरीय शब्द से ही सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि हुई है । वाक्य के ईश्वरीय स्वरूप एवं उसके प्रत्येक भवचक्र के उद्भव की अभिव्यक्ति वेद से उद्भूत ब्राह्मण परम्परा भाषा को 'दैवीवाक्' समझते हैं ।

महान समकालीन दार्शनिक अरविन्द के अनुसार — 'वेद की भाषा मेधा की सृष्टि न होकर अनन्त से नाद करती हुई मनुष्य के अन्दर से जाना गया सत्य है' । ऋग्वेद के अनुसार शब्दों के उतने ही रूप होते हैं, जितने ब्रह्म के । यहाँ तक कि परवर्ती हिन्दू ऋचाओं जैसे आरण्यक् तथा उपनिषद् में ऐसा कहा गया है—'इवाक्य एवं ब्रह्म एक है, सम्पूर्ण है' । स्पष्ट है कि सामान्य चेतना के तीन स्तरों (जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति) में निरूपित है । ओडम् चेतना के इन स्तरों से परे है, जहाँ वाणी तक नहीं पहुँचती । जो वाणी से परे है, उसे ही 'ओडम्' कहा जाता है । जो शब्द ब्रह्म की प्रवृत्ति को ङ्गीक से समझ सकेगा, वही उपनिषद् में वर्णित 'अमृत-ब्रह्म' हो प्राप्त कर सकता है । अर्थात् सायुज्य मुक्ति उसे ही मिल सकती है - '**तस्मादयः शब्दसंस्कारः सा सिद्धि परमात्मनः तस्य प्रवृत्ति तत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते**' । सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति का प्रथम विकार महत् तत्व है, जो बुद्धि है । महत् का विकार अहंकार है । अहंकार से एक ओर सत्त्व प्रधान ग्यारह इन्द्रियों की सृष्टि हुई तो दूसरी ओर तमः प्रधान पंचतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, इनमें प्रथम शब्द तन्मात्रा है, जिससे स्थूल आकाश नामक भूत की उत्पत्ति होती है । सांख्य दर्शन में विश्व के सभी स्थूल घट-पट आदि प्राकृतिक पदार्थ शब्द रूप, रस और गंध का समुदाय मात्र है ।

मीमांसा दर्शन में शब्द के सम्बन्ध में मुख्य धारणा यह है कि वर्ण या अक्षर से ध्वनि व्यक्त होती है । चूँकि वह नित्य और व्यापक है, इसलिए उससे पृथक कोई ऐसा समुदाय नहीं होता, जो अर्थ का ज्ञान कराता है । वे अक्षरों एवं वर्णों से ही शब्द की रचना मानते हैं । मीमांसकों के अनुसार वर्ण तत्त्वतः तो शाश्वत तथा व्यापक है, लेकिन उनका प्रकाशन ध्वनि यंत्र के प्रयत्न से होता है, तभी वे शब्द बनकर अर्थ का बोध कराते हैं । अतः उच्चरित वर्ण ही शब्द कहलाते हैं । ये उच्चरित वर्ण क्षणिक होते हैं, फिर भी प्रत्येक उच्चरित वर्ण अपना संस्कार छोड़ता जाता है और जब शब्द के अंतिम

वर्ण का उच्चारण होता है, तब पूर्व उच्चरित सभी वर्णों की उसी क्रम में स्मृति हो जाती है और इस प्रक्रिया से स्मृति में आए हुए सभी वर्ण नियत क्रम में संघटित होकर अर्थ का बोध कराते हैं। पुनः इनकी मान्यता है कि जिस प्रकार आग में उष्णता का धर्म नित्य रूप में रहता है, उसी प्रकार शब्द में अर्थ का बोध सनातन रूप से रहता है। इस प्रकार मीमांसकों के सिद्धान्त का सार है कि (१) वर्ण शब्दों का घटक है, जो नित्य है। (२) शब्द में अर्थबोध की स्वाभाविक तथा नित्य शक्ति अन्तिर्निहित रहती है। (३) शब्द की इस शक्ति के साथ समय या परम्परा प्राप्त शब्दार्थ सम्बन्ध तथा व्यापार से अर्थ बोध संभव होता है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार वह अर्थ ही शब्द है, जिसका श्रोत्र (कान) द्वारा ग्रहण होता है - 'श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः सः शब्दः'। श्रोत्र द्वारा चूँकि इन वर्णों का ही ग्रहण होता है, अतः यह शब्द है। इससे भिन्न स्फोट रूप शब्द का कोई अस्तित्व नहीं है। जैसा वैयाकरणों ने माना है कि बौद्ध दर्शन में शब्द को ध्वनि रूप उत्पन्न तथा नष्ट होने वाला माना गया है। अतः बौद्ध दार्शनिक क्षणिक ध्वनि को ही शब्द मानते हैं। शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने जिस नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह 'अपोहवाद या तद्भिन्न-भिन्नतावाद' के नाम से प्रसिद्ध है। वे शब्द का अर्थ अपोह या अतद् व्यावृत्ति रूप मानते हैं। अपोह का अर्थ है - 'आच्छादान'। अतद् व्यावृत्ति का अर्थ है — 'अर्थ से भिन्न सभी वस्तुओं का निषेध'। इस प्रकार अपोहवाद या तद्भिन्न-भिन्नतावाद का सार है कि शब्द का अर्थ तद् भिन्न या व्यावर्तन या अपोह रूप होता है। उदाहरणार्थ 'गाय' शब्द का अर्थ होगा— 'गाय से भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न पदार्थ का बोध'। इस तरह बौद्ध विचारकों के अनुसार 'गाय' शब्द विधि रूप में किसी अर्थ का बोध नहीं कराता। उससे भिन्न का निषेध या व्यावर्तन कराता है और इस व्यावर्तन रूप अर्थ के बोध की शक्ति शब्द में रहती है। शब्द का अर्थ भाव न होकर अभाव रूप होता है। गाय से भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न 'गाय' ही हो सकती है।

आगम शास्त्र के अनुसार शब्द या नाद के रूप में जो कुछ भी सुना जाता है, वह सांसारिक शक्ति की अभिव्यक्ति है। जब तक ध्वनि उत्पन्न होती है, आकाश रहता है तथा तत्त्व विनष्ट हो जाते हैं तब निराकार (आकारहीन) बच जाता है। निराकार तथा निःशब्द तत्त्व को 'परब्रह्म या परमात्मा' कहा जाता है:—

यत् किं चिन्नादरूपेण श्रूयते श्रुतिरेव सा ।

यस्तत्वान्ते निराकारः स एव परमेश्वरः ॥१९

भागवत पुराण में शब्द-ब्रह्म को अनन्त तथा अपरिमित कहा गया है :—

शब्द ब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोभम् ।

अनन्तपारं गंभीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥

महाभारत के शांतिपर्व में कहा गया है कि शब्द-ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति 'पर-ब्रह्म' को प्राप्त करते हैं:— 'शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति'^{१०} । वस्तुतः ऐसा कोई भी विचार नहीं है, जो शब्द में समाहित न हो । सभी ज्ञान शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं । पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में कहा कि ज्ञात तथा प्रयुक्त शब्द एक है । शब्द की महत्ता को ध्यान में रखकर इन्होंने यहाँ तक कहा है कि अच्छी तरह से ज्ञात एवं प्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्ग तथा मृत्युलोक में कामनाओं की पूर्ति करता है—

एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः शास्त्रान्वितः ।

सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ॥^{११}

अथर्ववेद के अनुसार सभी भाषाओं या वाक् का परम सिद्धान्त सर्वोच्च प्राणी है । वाक् के द्वारा ही इस ब्रह्माण्ड में सभी ईश्वर मनुष्य तथा पशु रहते हैं । तैत्तरीय उपनिषद् के अनुसार आत्मा से ही सम्पूर्ण सृष्टि प्रकट होती है । आचार्य कैयट ने अपनी घटत्वादि रूप असत् उपाधियों के रहने पर भी पारमार्थिक रूप से सभी शब्दों द्वारा ब्रह्म की अभिव्यक्ति का ही प्रतिपादन किया है । जिस प्रकार आचार्य भर्तृहरि एवं आचार्य दण्डी ने शब्द तत्त्व को इस सम्पूर्ण संसार का आधारभूत तत्त्व होने के साथ-साथ इस निखिल प्रपंच का प्रकाशक निरूपित किया है, बिल्कुल ऐसी ही मान्यता क्रिश्चियन धर्म के आधारभूत ग्रन्थ बाइबिल में अभिव्यक्त हुई है । बाइबिल के 'न्यूटेस्टामेंट' में कहा गया है — 'आरंभ में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और ईश्वर शब्द के साथ था ।'^{१२}

वैयाकरण इस नित्य शब्दब्रह्म को 'स्फोट' के नाम से पुकारते हैं, जो सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण है — 'जगन्निदानं स्फोटोख्यो निरवयवो नित्यः शब्दो इव इति'^{१३} । वैयाकरणों के अनुसार सृष्टि के आरंभ में पश्यन्ती व वाक् रूपी शब्द-ब्रह्म अपनी अपरिचित शक्ति वाली माया के साथ होकर विभिन्न प्रकार के प्राणियों के कर्मों की सहायता से समस्त नाम रूपात्मक जगत् को बुद्धिस्थ करके संकल्प करता है और तब अपनी स्वतंत्र शक्ति 'कालशक्ति' के साथ आकाशादिकों की, उसके बाद भूतों की सृष्टि करता है । जो प्रलय के बाद स्थिर है, जिसका तर्क आगम और अनुमान अनेक प्रकार से किया गया है, जो समस्त प्राणियों के शरीर में विद्यमान है, जो मुक्त है तथा मोक्षार्थी जिसकी उपासना करते हैं; जिसकी प्रथम ज्योति वेद में परिणत होती है, वह शब्द है और उसी की मात्रा

से जगत् का विवर्त हुआ है और उसी में वह विलीन हो जाता है ।

इस प्रकार वेद, उपनिषद्, सांख्य, मीमांसा, न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ-साथ व्याकरणशास्त्र में भी भाषा के स्वरूप की विशद् चर्चा की गई है तथा विभिन्न दृष्टियों से शब्द के द्वारा अर्थबोध की विवेचना प्रस्तुत की गई है ।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,
नव नालन्दा महाविहार,
नालन्दा ८०३१११

संदर्भ ग्रन्थ

१. काव्यादर्श, दण्डी, पृ० १-४
२. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, १.१३२
३. लेंग्वूऐज, प्रो० आटो येस्पर्सन
४. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, पृ० १-१२६
५. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, पृ० १-१२७
६. ऋग्वेद, १०-१२५-८
७. ऋग्वेद, ४-५८-१
८. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, २-१०
९. दृढयोग प्रदीपिका, स्वामी रामाचारी, ४-१०१
१०. महाभारत, शांतिपर्व, १७०, गीताप्रेस, गोरखपुर
११. महाभाष्य, पतंजलि, १-१-६४
१२. कैयट कृत प्रदीप व्याख्या, व्याकरण महाभाष्यम् पृ० ३४
१३. बाइबिल, न्यूटेस्टामेन्ट, १-३
१४. सर्वदर्शनसंग्रह ऑफ माधवाचार्य, व्याख्याकार उमाशंकर शर्मा, 'ऋषि', पृ० ५९१



भारतीय मूल के चार विश्वधर्मों में सामाजिक कल्याण की अवधारणा

डॉ० गीता मेहता

प्रास्ताविक

समाज-कल्याण की अवधारणा में धर्मों ने बड़ी जिम्मेदारी का काम निभाया है। धर्मों के कारण सामान्य जन तक मानवीय मूल्य पहुँचाने में काफी सरलता मिली है। धर्म, नीति-नियम पर जोर देकर दान और परोपकार को मान्यता देता है। सभी धर्म दीन दुखी, निराधार, रोगी, वृद्ध और अपंगोंकी सेवा की सिफारिश करते हैं, इस तरह समाज-कल्याण की भावना सभी धर्मों में है।

धर्म का अर्थ है - धारयते इति धर्मः, जिस के पालन से समाज धारण होता है, अतः धर्म में यज्ञ, दान, तप - सभी विचार-आचार समाविष्ट है। समाज की धारणा नीति से होती है और भारतीय चिंतन में धर्म और नैतिकता के प्रत्यय साथ-साथ रहे हैं। जो नैतिक शुभ है वही धर्म है और धर्म है वही नैतिक शुभ है। भारतीय चिंतन में धर्म शब्द नैतिक सद्गुण और कर्तव्य के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। धर्म नैतिकता की आत्मा है और नैतिकता धर्म का शरीर है। एक दूसरे के अभाव में दोनों नहीं टिकते।

हिंदू धर्म —

समाज-कल्याण की भावना हिंदू धर्म में धर्म और कर्म के सिद्धांत पर आधारित है। धर्म आंतरिक आवश्यकता और संरक्षक विचार है, जिस क्रिया से उसकी अनुभूति होती है, उसे कर्म कहा जाता है जो कायिक, वाचिक और मानसिक रूप में अभिव्यक्त होता है। वेदों की समाज निष्ठा बहिर्मुखी थी, वही उपनिषदों में आकर अंतर्मुखी बन गई। भारतीय दर्शन में यह अभेद निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बन गई। भारतीय दर्शन में यह अभेद निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित्जगत्यां जगत्' - कहकर ऋषियों ने संपत्ति के वैयक्तिक आधार का निरसन कर ईश्वरी संपदा अर्थात् सामूहिक संपदा का विचार भी प्रस्तुत किया। दान से इह लोक और परलोक दोनों में सद्गति मिलती है। दान श्रद्धा से देना चाहिए - श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया अदेयम्^१ बृहदारण्यक उपनिषद् की कहानी के अनुसार 'द' अक्षर से मनुष्य ने 'दान करो' का उपदेश लिया। हिंदू धर्म के अनुसार 'दान - देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं

स्मृतम् ¹³ देश, काल और योग्य व्यक्ति को देखकर दान देना चाहिए। अनासक्त भाव से मुक्त हो कर लोककल्याण के लिए कार्य करते रहना ही गीता के समाज-दर्शन का मूल मंतव्य है। योग दर्शन के प्रथम सोपान 'यम' के पाँचों मूल्य समाज-कल्याण की ओर इंगित करते हैं।

भारतीय चिंतन में पुण्य और पाप का, जो वर्गीकरण है, उस में भी सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। पाप के रूप में जिन दुर्गुणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्गुणों का उल्लेख है उनका संबंध वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन से अधिक है। कहा भी गया है - **'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'** जो लोक के लिए हितकर है कल्याणकर है, वह पुण्य है और इसके विपरीत जो भी दूसरों के लिए पीड़ा-जनक है, अमंगलकर है, वह पाप है। इस प्रकार भारतीय चिंतन में पुण्य पाप की व्याख्याएँ भी सामाजिक दृष्टि पर ही आधारित है

वैदिक परंपरा में सामाजिक धर्म

वैदिक परंपरा में मनु ने कुछ सामाजिक धर्मों का विधान किया है। जैसे १. देशधर्म, २. जाति धर्म, ३. कुल धर्म, ४. पाखंड धर्म, ५. गुण धर्म¹³ मनुस्मृति में वर्णित ये पाँचों ही सामाजिक धर्म, जैन परंपरा के दस सामाजिक धर्मों में समाहित है। दोनों में न केवल नाम-साम्य है, वरन् अर्थ - साम्य भी है। गीता में भी कुलधर्म की चर्चा है। वैदिक परंपरा के अनुसार माता-पिता की सेवा एवं सामाजिक दायित्वों को पूरा करना व्यक्ति का कर्तव्य है। देव ऋण, पितृ ऋण और गुरु ऋण का विचार तथा अतिथि-सत्कार का महत्व - ये बातें स्पष्ट रूप से यह बताती हैं कि वैदिक परंपरा समाजपरक रही है और उसमें सामाजिक दायित्वों का निर्वहन व्यक्ति के लिए आवश्यक माना गया है।

गीता में सदैव ही स्वहित के ऊपर लोकहित की प्रतिष्ठा हुई है। स्वहित के लिए जीनेवाला व्यक्ति अधार्मिक और नीच है। सामाजिक दायित्वोंका निर्वहन न करना गीता की दृष्टि में भारी अपराध है। गीता के अनुसार लोकहित करना मनुष्य का कर्तव्य है। सर्व प्राणियों के हित संपादन में लगा हुआ पुरुष ही परमात्मा को प्राप्त करता है। वह ब्रह्मनिर्वाण का अधिकारी होता है।¹⁴ जिसे कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है अर्थात् जो जीवन्मुक्त हो गया है, जिसे संसार के प्राणियों से कोई मतलब नहीं, उसे भी लोकहितार्थ कर्म करते रहना चाहिए।¹⁵ योगदर्शन के पाँचों यम सामाजिक धर्म की ओर निर्देश करते हैं। रामायण, महाभारत विविध चरित्र चित्रण करते हुए समाज धर्म समझाते हैं।

जैन धर्म

वैदिक काल से ही आर्य संस्कृति और श्रमण संस्कृति साथ साथ चल रही थी । श्रमण संस्कृति की परिणति आगे जाकर जैन धर्म और बौद्ध धर्म में हुई । जैन धर्म का ध्येय है - मोक्ष । मोक्ष पाने के लिए हर एक को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य का रास्ता अपनाना चाहिए । **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**^६ - मानवीय चेतना के अनुभूत्यात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक तीनों पक्षों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है । जहाँ तक धर्म दर्शन और आचार दर्शन के संबंध का प्रश्न है जैन परंपरा में वे पूरी तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं । धर्म ही नीति है और नीति ही धर्म है । दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची बन गए हैं । आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है, चारित्तं हि खलु धम्मो ।^७

जैनधर्म में सामाजिक दायित्व - सम्यक् चारित्र्य में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का समावेश होता है । सम्यक् चारित्र्य में समाज-कल्याण की भावना ज्झोस कर भरी हुई है । समाज सेवा यह जैन धर्म का मुख्य ध्येय है जो नीचे दी हुई क्रियाओं से सिद्ध होता है । आहार-दान, पेय-दान, वस्त्र-दान, आश्रय-दान से और अप्रिय वाणी न बोलने से भी समाज सेवा होती है ।

महावीर के जमाने में व्यक्तिगत शांति और सुख का प्रश्न उनके सामने था तो उन्होंने संयम और अहिंसा जनता के सामने रखा । तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक करुणा के लिए होता है । इसीलिए आचार्य समन्तभद्र वीर-जिनस्तुति में लिखते हैं - **सर्वापदामन्तकरं निरन्तरं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव**^८ - हे प्रभो ! आपका अनुशासन सभी दुखों का अंत करने वाला और सभी का कल्याण (सर्वोदय) करने वाला है । जैन आगमों में प्रस्तुत कुलधर्म, ग्रामधर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म एवं गण धर्म भी उसकी समाज सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं ।

समाज, त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है अतः वीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत करती है और संपूर्ण मानवजाति में सुमधुर सामाजिक संबंधों का निर्माण कर सकती है । **परस्परपग्रहोजीवानाम्**^९ पारस्परिक हित साधन वह जीव का स्वभाव है और यह पारस्परिक हितसाधन की स्वाभाविक वृत्ति ही मनुष्य की सामाजिकता का आधार है । स्वस्थ सामाजिकता अधिकार का नहीं कर्तव्य का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार ज्झविवेकज्ञ होता है, कर्तव्य बोध होता है । जैन धर्म ऐसी ही सामाजिक चेतना निर्माण करना चाहता है ।

सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण हैं - १. संग्रह (लोभ) २. आवेश (क्रोध) ३. गर्व (अभिमान) और ४. माया (छिपाना) जिन्हें जैनधर्म में चार कषाय कहा जाता है। ये चारों अलग अलग रूप से सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशांति के कारण बनते हैं। इन चार कषाय के कारण सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन-दर्शन में इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक साधना का आधार बनाया है। इस तरह जैन दर्शन अपने साधना-मार्ग के रूप में सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर सामाजिक समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है। जैन धर्म के पाँच महा व्रतों का पूरा संदर्भ सामाजिक जीवन है। आचार्य तुलसीजी, संतबालजी, आचार्य अमर मुनिजी, आचार्य महाप्रज्ञजी, आचार्या चंदनाजी मिशनरी उत्साह से समाज-कल्याण के कार्य में लगे हुए दिखाई देते हैं।

स्थानांगसूत्र में सामाजिक जीवन के संदर्भ में दस धर्मों का विवेचन उपलब्ध है।^{१०} १. ग्राम धर्म २. नगर धर्म, ३. राष्ट्र धर्म, ४. पाखण्ड धर्म, ५. कुल धर्म, ६. गण धर्म, ७. संग धर्म, ८. सिद्धान्त धर्म (श्रुत धर्म) ९. चारित्र धर्म, १०. अस्तिकाय धर्म - प्रथम सात तो पूरी तरह से सामाजिक जीवन से संबंधित है।

स्वहित बनाम लोकहित - जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही अधिक महत्व दिया है। जैन दर्शन के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊँचाई पर स्थित सभी जीवन्मुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से समान ही होते हैं फिर भी आत्महितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के आधार पर उन में उच्चावच्च अवस्था को स्वीकार किया गया है। एक सामान्य केवली (जीवन्मुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएँ समान ही होती हैं, फिर भी अपनी लोकहितकारी दृष्टि के कारण ही तीर्थंकर को सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त करने वालों में भी उनके लोकोपकारिता के आधार पर तीन वर्ग होते हैं - १. तीर्थंकर २. गण धर ३. सामान्य केवली।

१. तीर्थंकर - तीर्थंकर वह है जो सर्वहित के संकल्प को लेकर साधना मार्ग में आता है और आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् भी लोकहित में लगा रहता है। सर्वहित, सर्वोदय और लोककल्याण ही उनके जीवन का ध्येय बन जाता है।^{११}

२. गण धर - सहवर्गीय हित के संकल्प को लेकर साधना क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाला और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने पर भी सहवर्गीयों के हित एवं कल्याण के लिए प्रयत्नशील सार्थक गण धर है।^{१२}

३. सामान्य केवली - आत्मकल्याण को ही जिसने अपनी साधना का ध्येय बनाया है

और जो इसी आधार पर साधना मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि करता है वह सामान्य केवली कहलाता है ।^{१३}

जैनधर्म में विश्वकल्याण, वर्ग कल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गई है, जिन से विश्व कल्याण की प्रवृत्ति के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है । जिस प्रकार बौद्ध विचार में बोधिसत्व और अर्हत के आदर्शों में भिन्नता है उसी प्रकार जैन विचारणा में तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों में तारतम्यता है ।

दूसरे जैन साधना में संघ समाज को सर्वोपरि माना गया है । संघ हित समस्त वैयक्तिक साधनाओं से ऊपर है, संघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है । ऐसा लोकहित जो व्यक्ति के चरित्र पतन अथवा आध्यात्मिक कुण्ठन से फलित होता हो उसे स्वीकार नहीं है । लोकहित और आत्महित के संदर्भ में उसका स्वर्णिम सूत्र है - आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित और लोक हित में द्वंद्व हो और आत्महित के कुण्ठन पर ही लोकहित फलित होता हो, वहाँ आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है ।^{१४}

बौद्ध धर्म

वैदिक काल में हमारे सामाजिक धर्म में जब कुरीतियाँ भर गईं तब बुद्ध समाज सुधारक और धर्म प्रवर्तक के रूप में प्रकट हुए । जीवन के बारे में जोरदार पृथक्करण और एक प्रबल नीतिशास्त्र विकसित करने के कारण बौद्ध धर्म पूरे विश्व में व्याप्त हुआ । बुद्ध न केवल तत्वमीमांसा और आचार दर्शन में अपरिहार्य संबंध स्वीकार करते हैं, वरन् ऐसी तत्वमीमांसा को, जो नैतिक जीवन की समस्याओं से संबंधित नहीं है, अनावश्यक भी मानते हैं । दुःखी और पीड़ित लोगों को मदद करने के लिए बुद्ध और उनके अनुयायी दिलोजान से लगे रहे अतः यह एक सेवाभावी धर्म बन गया । बौद्ध धर्म इहलोक का धर्म रहा, मानव धर्म रहा, जिसने ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग-नरक के बारे में कुछ बताया नहीं । बौद्ध धर्म लोगों की यातना दूर करने, जरूरतमंदों को मदद करने के लिए और संघ की कार्यवाही से समाज-कल्याण का काम करने हेतु फैला ।

बुद्ध के चार आर्य सत्य - (१) दुःख है (२) दुःख का कारण है (३) दुःख निरोध हो सकता है (४) दुःख निरोध का मार्ग है - ये चारों मनुष्य के लिए प्रेम और करुणा को समाविष्ट करते हैं । बुद्ध दुःख को वैश्विक वास्तविकता के रूप में देखते हैं, जिसका कारण भी है और उपाय भी है । मैत्री, करुणा और मुदिता उसके उपाय हैं और इन सिद्धांतों की अभिव्यक्ति समाज-कल्याण के कार्य में परिणत होकर आश्रयस्थान, अस्पताल

वगैरह बनते हैं। बुद्ध के अष्टांग मार्ग ने लोगों को व्यावहारिक नीतिशास्त्र से सामाजिक समानता के लिए समझाया।

बौद्ध परंपरा में सामाजिक धर्म - बुद्ध के अनुसार सामाजिक प्रगति के सात नियम हैं। १. बार-बार एकत्र होना, २. सभी का एकत्र होना ३. निश्चित नियमों का पालन करना और नए नियमों का निर्माण करना, ४. अपने यहाँ के वृद्ध राजनीतिज्ञों का मान रखना और उनसे यथावसर परामर्श प्राप्त करते रहना, ५. विवाहित और अविवाहित स्त्रियों पर अत्याचार नहीं करना, और उन्हें उचित मान देना, ६. नगर के और बाहर के देवस्थानों का समुचित रूप से संरक्षण करना और ७. अपने राज्य में आए हुए अर्हन्तों को किसी प्रकार का कष्ट न हो तथा न आए हुए अर्हन्तों को राज्य में आने के लिए प्रोत्साहन मिले ऐसी सावधानी रखना। बुद्ध ने उपर्युक्त सात अभ्युदय के नियमों का प्रतिपादन किया और यह बताया था कि यदि वज्जी गण इन नियमों का पालन करता रहेगा तो उसकी उन्नति होगी, अवनति नहीं।^{१५}

बुद्ध ने जैसे गृहस्थ वर्ग की उन्नति के नियम बताए वैसे ही भिक्षु संघ के निम्नोक्त सामाजिक नियमों का पालन करने से संघ में संगठन और एकता बनी रहती है- १. मैत्रीपूर्ण कायिक कर्म, २. मैत्री पूर्ण वाचिक कर्म, ३. मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म, ४. उपासकों के प्राप्त दान का सारे संघ के साथ सम विभाजन, ५. अपने शील में किंचित भी त्रुटि न रहने देना, ६. आर्य श्रावक को शोभा देने वाली समदृष्टि रखना।^{१६}

अंगुत्तर निकाय में बुद्ध ने सामाजिक जीवन के चार सूत्र प्रस्तुत किए हैं, जो इस प्रकार हैं- १. दान शीलता, २. स्नेहपूर्ण वचन, ३. बिना प्रतिफल के किया गया कार्य और ४. सभी को एक समान समझना।^{१७} वस्तुतः बुद्ध की दृष्टि से यह स्पष्ट था कि ये चारों ही सूत्र ऐसे हैं जो सामाजिक जीवन के सफल संचालन में सहायक हैं। सभी को एक समान समझना सामाजिक न्याय का प्रतीक है और बिना प्रतिफल की आकांक्षा के कार्य करना निष्काम सेवाभाव का प्रतीक है। इसी प्रकार दानशीलता, सामाजिक अधिकार एवं दायित्वों की और स्नेहपूर्ण वाणी सामाजिक सहयोग भावना की परिचायक है।

बुद्ध ने सामाजिक जीवन के लिए सहयोग को आवश्यक कहा है। उनकी दृष्टि में सेवावृत्ति, श्रद्धा और भक्ति से भी अधिक महत्वपूर्ण है। बुद्ध पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में गृहस्थ उपासक के कर्तव्यों का निर्देश करते हुए दीघनिकाय के सिगातो पाद-सुत्त में गृहपति को माता पिता, आचार्य, स्त्री, पुत्र, मित्र, दास और श्रमण ब्राह्मण के प्रति उनके कर्तव्य गिनाते हैं।^{१८}

बौद्धदर्शन की लोकहितकारिणी दृष्टि

भगवान बुद्ध का आदेश 'चरथ भिक्खवे चारिकं' बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्याय हिताय सुखाय देवमनुस्मान^{१९} 'हे भिक्षुओं, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोककी अनुकंपा के लिए, देव और मनुष्यों के सुख और हित के लिए परिचारण करते रहो।' - यह बताता है कि संन्यास लोक-मंगल के लिए होता है। सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति है जो समाज से अल्पतम लेकर अधिकतम देता है। वस्तुतः वह कुटुंब, परिवार आदि का त्याग इसलिए करता है कि समष्टि का होकर रहे क्योंकि जो किसी का है वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है वह किसी का नहीं है।

संन्यास शब्द सम्पूर्वक न्यास है, न्यास शब्द का अर्थ देख-रेख करना भी है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो सम्यक् रूप से एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है जो ममत्व भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (संपदा) का रक्षण एवं विकास करता है। संन्यासी उस भूमिका पर खड़ा होता है जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। संन्यासी उस भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की। उसकी वास्तविक स्थिति 'धाय' नर्स के समान ममत्व रहित कर्तव्य भाव से होती है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो लोक-मंगल के लिए अपने व्यक्तित्व एवं अपने शरीर को समर्पित कर देता है। अतः भारतीय दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है।

बोधि प्राप्त कर लेने पर बुद्ध ने अद्वितीय समाधिसुख में विहार करने के निश्चय का परित्याग कर लोक हितार्थ एवं लोकमंगल के लिए परिचारण करना ही स्वीकार लिया। यह उनकी लोकमंगलकारी दृष्टि का ङ्घ्रिसब से बड़ा प्रमाण है।^{२०} लंकावतार सूत्र में बोधिसत्व से यहाँ तक कहलवा दिया गया कि मैं तब तक परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं करूंगा जब तक कि विश्व के सभी प्राणी विमुक्ति प्राप्त न करलें।^{२१}

महायान शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। महायानी साधक कहता है - दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनंद मिलता है वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना देना ?^{२२}

सिक्ख धर्म

सिक्ख धर्म इस्लाम के एकेश्वरवाद एवं मूर्ति पूजा के अविश्वास और हिंदू धर्म के सिच्चदानंद ब्रह्म से प्रभावित है। आत्मचेतना की जागृति नानक के जीवन में काफी

थी। गरीबों के लिए उन के दिल में अनुकंपा थी। अमीरों की संपत्ति को वे गरीबों से चोरी की हुई संपत्ति मानते थे। सिख गुरुओं ने मूर्तिपूजा वर्णविचार, तीर्थयात्रा, अवतारवाद तथा शास्त्रीय विधियों के खिलाफ आवाज उठायी है।

गुरुनानक कहते हैं कि ईश्वर मनुष्य के भीतर है और मनुष्य ईश्वर के बिना कुछ नहीं। उन्होंने जिस धार्मिक जीवन की सिफारिश की है वह सामाजिक और नैतिक है। उन्होंने सच्चाई, मानवता, दान, करुणा, भ्रातृत्व का मार्ग लोगों को बताया। सिख धर्म में वैश्विक प्रेम को महत्व दिया है। जिसकी अभिव्यक्ति भ्रातृत्व में और सामान्य व्यक्ति के गौरव में होनी चाहिए और उसके कारण निस्वार्थ सेवा और दान प्रक्रिया बढ़नी चाहिए। उससे अहंकार जो शोषण और मिथ्याभिमान की जड़ है, दूर होगा। अहंकार ही बुरे विचार और कर्म का कारण है। अहंकारजन्य कर्म मनुष्य को गले में पड़ी शृंखला की तरह बांधता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, और अहंकार - ये पाँच सिख धर्म के मुताबिक मुख्य पाप हैं।

बादलों की तरह अहंकार भी हम से ईश्वर को छुपाता रहता है। गुरु कृपा से अहंकार का अंत होकर सर्वशक्तिमान की झांकी होती है। अहंकार का रूपांतर अभिमान में होकर वैयक्तिक आत्मा और वैश्विक आत्मा में परदा होकर रहता है। गुरुमत्ता या विवेक बुद्धि से शांत और अनंत के अनुसंधान का साक्षात्कार होता है।

सिख धर्म में सामाजिक दायित्व -

ग्रंथसाहिब के कर्मखंड में कहा गया है कि जो अनासक्तभाव से कर्म करते हैं, उन पर कृपा होती है और परमात्मा के हुक्म पर उनकी इच्छा काम करती है। सिखों में सामाजिक कल्याण की भावना नानक के जमाने से है। लंगर की प्रथा तभी से चली आयी है जिसमें हरेक सिख अपना भोजन दूसरों के साथ विभाजित करता है। अपने बिरादरीवालों की सेवा यह सिखों का मुख्य कर्तव्य माना गया है, वह प्रेम की व्यावहारिक अभिव्यक्ति मानी गयी है। गुरुद्वारा इस सेवा के लिए अनुकूलता प्रदान करता है। मनुष्य के उत्कर्ष से समाज का उत्थान होता है। अतः गुणों को अपने जीवन में अपनाना चाहिए, यह एक सामाजिक कर्तव्य है। अतिवादी न होकर बीच का मार्ग खोजना यही कल्याण मार्ग है। उससे सुख और समाधान को मदद मिलती है। सिखोंका गुण है शांति, धैर्य और समाधान। सत्य को सिख गुरु ने पहला स्थान दिया है। गुरु नानक कहते हैं - सब दुर्गुणों का उपाय सत्य है और उससे सब पाप धुल जाते हैं। सत्य में खरापन प्रामाणिकता, सरलता, न्याय, निष्पक्षता समाविष्ट है। सत्य स्वयं प्रकाशित है उसे अन्य सिद्धान्तों की जरूरत नहीं। सत्यमेव जयते

पुरुषार्थचतुष्टय एवं समाज

धर्म, अर्थ, काम सामाजिक जीवन में ही उपलब्ध है। धर्मों धारयते प्रजा: के रूप में परिभाषित कर उसका संबंध भी हमारे सामाजिक जीवन से जोड़ा गया है। वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का ही सूचक है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिक इस संबंध में एकमत हैं कि मोक्ष का संबंध मुख्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति से है। बंधन और मुक्ति दोनों ही मनुष्य के मनोवेगों से संबंधित है। राग, द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व, अहं आदि की मनोवृत्तियाँ ही बंधन है और इनसे मुक्त होना ही मुक्ति है। मुक्ति की व्याख्या करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है। आचार्य शंकर कहते हैं - वासना प्रक्षयो मोक्षः।^{२३}

वस्तुतः मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का संबंध भी हमारे जीवन से ही है। यदि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि की मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है तो मुक्ति का संबंध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है मतलब ही वह इसी जीवन में प्राप्तव्य है। शंकराचार्य लिखते हैं -

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।

अविद्याहृदयग्रन्थि मोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥^{२४}

जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है उसी प्रकार विदेह मुक्ति तो जीवनमुक्ति का अनिवार्य परिणाम है। अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है, और जो साध्य है वह जो जीवन-मुक्ति ही है। जीवन्मुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता से हम इन्कार नहीं कर सकते क्योंकि जीवन मुक्त एक ऐसा व्यक्तित्व है जो सदैव लोककल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है।

जैन दर्शन में तीर्थंकर, बौद्ध दर्शन में अर्हत एवं बोधिसत्व, वैदिक दर्शन में स्थितप्रज्ञ और सिख धर्म में गुरु की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक-मंगल और मानव कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है क्योंकि जनजन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है। बोधिसत्व तो लोक-मंगल के लिए अपने बंधन और दुख की कोई पर्वाह नहीं करता है।

बहुनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति ।

उत्पाद्यमेव तद्दुःखं सद्येन परमात्मनो ।

मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रमोद्यसागरः ।

तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥^{२५}

यदि एक के कष्ट उड़ाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणा पूर्वक उनके दुख दूर करना ही अच्छा है । प्राणियों को दुखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनंद प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर निरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है ?

वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कंध में प्रह्लाद ने स्पष्ट रूप से कहा था -

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ॥

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥^{२६}

‘हे प्रभु, अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफ़ी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे । किंतु उनमें परार्थ निष्ठा नहीं थी । मैं तो अकेला इन सब दुखी जनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता ।’ यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्गार है ।

इसी प्रकार बोधिसत्व भी सदैव ही दीन और दुखी जनों को दुख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात ही मुक्त होना चाहता है ।

भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः ।^{२७}

वस्तुतः मोक्ष अकेला पाने की वस्तु नहीं है । इस संबंध में आचार्य विनोबा भावे के उद्गार विचारणीय है -

‘जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है वह उसके हाथ से निकल जाता है । मैं के आते ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष यह वाक्य ही गलत है । ‘मेरा’ मिटने पर ही मोक्ष मिलता है ।’^{२८}

जैन दर्शन पंच महाव्रत, बौद्ध दर्शन के पंचशील, सिक्ख धर्म से पाँच से पाँच पापों से दूर रहने की प्रवृत्ति और योगदर्शन के पंचयमों का संबंध अनिवार्यतया हमारे सामाजिक जीवन से ही है । हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह - ये सब वैयक्तिक नहीं सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं । ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से संबंधित हैं । इसी प्रकार जैन, बौद्ध और योग दर्शनों की साधना पद्धति में समान रूप से प्रस्तुत

मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावनाओं के आधार पर सामाजिक संदर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है ।

आत्मार्थी स्वार्थी नहीं है उसकी दृष्टि तो यह होती है कि सभी अपने हित के लिए कार्य करें । उसकी एक जीवन दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोक-मंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है । उसकी एक मात्र मंगल कामना है **सर्वत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत् ।।**

निर्देशिका,
के०जे०सोमय्या जैन सेंटर
विद्या विहार, मुंबई ४०० ०७७

संदर्भ सूची

१. तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा वल्ली
२. भगवद्गीता अध्याय १७, श्लोक २०
३. मनुस्मृति १-११८
देशधर्मान्जातिधर्मान्कुलधर्माश्च शाश्वतान् ।
पाषण्डगणधर्माश्च शास्त्रेस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥
४. भगवद्गीता अध्याय ५-श्लोक २५, १२-४)
५. भगवद्गीता अध्याय ३-श्लोक १८)
६. तत्त्वार्थसूत्र - अध्याय १, सूत्र १
७. कुन्दकुन्दकृत पवयण सार १/७
८. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, आमुख, पृ० ५ पर उद्धृत (वाराणसी सर्व सेवा संघ प्रकाशन १९६९)
९. तत्त्वार्थसूत्र ५-२१
दसविधे धम्मे पणत्ते, तं जहा - गामधम्मे, णगरधम्मे, रटुधम्मे, पाखण्डधम्मे,
कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे
१०. स्थानांग सूत्र १०-१३५

११. योग बिंदू, अहमदाबाद, (अहमदाबाद जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, १९४०) पृ० २८५-१८८
१२. वही, पृ० २८९
१३. वही, पृ० २९०
१४. आत्म साधना संग्रह (म०प्र०, मोती लाल माण्डीत सैलाना सं २०१९) पृ० ४४७
१५. धर्मानंद कौसम्बी, भगवान बुद्ध जीवन और दर्शन, (इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन १९८७) पृ० १४४-१४५
१६. वही, पृ० १५१
१७. अंगुत्तरनिकाय ४, २ उद्धृत - भगवान बुद्ध धर्मानंद कोसम्बी १३२
१८. दीघनिकाय - सिगालोपाद, सुत्त २७३
१९. विनय पिटक - महावग्ग, पाली १-१०-३२, (बिहार गव्हरमेंट पाली पब्लिकेशन बोर्ड १९५६), पृ० २३
२०. माज्झिमनिकाय १-३-८
२१. लंकावतारसूत्र ८०/२१४
२२. बोधिचर्यावतार ८/१०८
२३. विवेकचूडामणि, श्लोक ३१७
२४. विवेकचूडामणि ५५८
२५. बोधिचर्यावतार ८/१०४, १०८
२६. भागवत, - सप्तमस्कंध अध्याय ९/४४
२७. बोधिचर्यावतार ३-२१
२८. विनोबा भावे, आत्मज्ञान और विज्ञान (वाराणसी : सर्वसेवा संघ १९६४) पृ० ७१

